प्रथम संस्करण, १९७२

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्रकाशक
.. . प्रकाशन
७ बंगलो रोड, दिल्ली-७

मुद्रक
सहयोगी प्रेस
२६८ मुट्ठीगंज, इलाहाबा

- - Kala By Dr. Ram Lakhan Shukla Rs 15

वपय-सूची

प्रथम खंड—उपन्यास-कला-सिद्धान्त

द्वितीय खंड—प्रतिक्रियाएँ

प्रथम खंड

उपन्यास : परिभाषा और विशेषता

हिन्दी साहित्य मे उपन्यास भी कुछ नवीनतम विधाओं मे से एक है। अंग्रेजी मे जिसे नॉवेल, कहते हैं, बंगला मे उसे 'उपन्यास' नाम से अभिहित किया जाता है और बंगला के समान ही हिन्दी मे यह विधा उपन्यास नाम से प्रचलित है। अंग्रेजी में 'नॉवेल' शब्द लैटिन 'Novus' शब्द से व्युत्पन्न हो कर आया है। 'Novus' का शाब्दिक अर्थ नवीन होता है। अंग्रेजी मे 'नॉवेल' शब्द कुछ दिनों तक 'नवीन' और 'लघु गद्य कथा' दोनों अर्थ को द्योतित करता था, किन्तु अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् साहित्य विधा के रूप मे यह प्रतिष्ठित हो गया और आज जिस अर्थ मे उसका प्रयोग होता है, वह अर्थ भी निश्चित हो गया। इतालवी भाषा मे 'नॉवेला' (Novella) शब्द लघु कथा के लिए प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी का 'नॉवेल' शब्द प्रत्यक्षतः 'नॉवेला' से प्रभावित है जो 'Novus' से व्युत्पन्न हुआ है। इतालवी शब्द 'नॉवेला' का अर्थ पारम्परिक से प्रतिकूल मौलिक कहानी ही नही होता, वरन् वह कहानी होता है जो वर्तमान में ही घटित हो अथवा जिसे घटित हुए अधिक समय न हुआ हो। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नॉवेल नवीनता का द्योतन तो कराता ही है, साथ ही वह इस तथ्य का भी द्योतन कराता है कि उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे वर्तमान जीवन से है। इस सामान्याभिधान का कुछ अंश अब भी विद्यमान है : उपन्यास जो सुदूर भूत के समय का चित्रण करता है, उसे ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। यह एक विशिष्ट नाम है और सम्भवतः इसे विशिष्ट नाम इसलिए दिया जाता है कि यह विशिष्ट वस्तु का निरूपण करता है। यह सम्भवतः इस रूप मे इस कारण से ग्रहण किया जाता है कि इसमे जिन वस्तुओं का निरूपण होता है, उनकी वास्तविकता संदिग्ध ही रहती है क्योंकि उन्हें न तो लेखक ने और न तो पाठकों ने ही प्रत्यक्ष रूप मे अनुभूत किया है। 'नवीन' अर्थ को प्राधान्य देने के कारण गुजराती के विद्वान 'नॉवेल' का नवल कथा कहते हैं और उर्दू साहित्य में 'नॉवेल' शब्द ही ग्रहण कर लिया गया है। मराठी मे 'नावेल' को 'कादंबरी' कहते हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'कादंबरी' की रोचकता, सरसता और

[illegible] महाकाव्य में इसकी कल्पना को गद्य पर आधृत करता है और इस से [illegible] है गद्य को अधिक यथार्थता में प्रस्तुत करने के अभिप्राय से [illegible] और [illegible] का अनुसरण किया गया है।

उपन्यास गद्य में लिखा जाता है। प्राचीन महाकाव्यों की विषय-वस्तु अधिकांशतः ऐतिहासिक या पौराणिक रही है। फलतः उनकी वर्णन-शैली काव्यात्मक रही है। इसी प्रकार उपन्यास की विवरणात्मकता गद्य में निहित है जो सामान्य जन की बातचीत का माध्यम है।

उपन्यास की कहानी का यथेष्ट लम्बी होना एक ऐसा प्रश्न है जो कठिन समस्या उत्पन्न कर देता है। नाटक का अभिनय किसी निश्चित अवधि तक सीमित हो सकता है, परन्तु उपन्यास के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। कुछ लोग उपन्यास में दो लाख शब्द होना या पचास हजार से अधिक शब्द होना आवश्यक मानते हैं, पर इस प्रकार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

उपन्यास की परिभाषा में यह कहा गया है कि वह भूत या वर्तमान समय के पात्रों और क्रियाओं का चित्रण करता है जो यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। परिभाषा का यह अंश हमें समस्या के मुख्य बिंदु की ओर ले जाता है। उपन्यास में जिस यथार्थ पर जोर दिया जाता है वह यथार्थ महाकाव्य के यथार्थ की तुलना में अधिक लौकिक और अधिक तथ्यात्मक होता है। उपन्यास के जो पात्र होते हैं वे महाकाव्य के पात्रों की तुलना में सामान्य जीवन के आयाम से बाहर नहीं प्रतीत होते और उनकी क्रियाएँ सामान्य जीवन से अधिक सम्बद्ध रहती हैं और अधिक स्वाभाविक होती हैं।

कम या अधिक जटिल कथानक अधिक महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न करता है जो उपन्यास को अन्य कल्पना प्रधान गद्य गल्पों से पृथक् सिद्ध कर देता है। कहानी अथवा कथा में सामान्यतः जो वर्णनविन्यास रहता है, उसकी तुलना में उपन्यास का वर्णन-विन्यास उच्च स्तर का होता है। कहानी काल क्रम से व्यवस्थित घटनाओं का वर्णन है, जबकि कथानक में घटनाएँ कार्य-कारण की शृंखला में व्यवस्थित की जाती हैं।

सामान्य रूप से उपन्यास की परिभाषा देना सम्भव नहीं है, किन्तु व्यापक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यह गद्य-साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप है, जिसका आधार कथा है। वह कथा वास्तविक हो सकती है अथवा कल्पित हो सकती है। कथा की प्रस्तुति में कल्पना का योग नितान्त आवश्यक है। कुतूहल के साथ मानवीय भाव-भूमि का प्रकाशन उसका चरम लक्ष्य होता है और किसी न किसी प्रकार के सिद्धान्त की आधार-भूमि पर उसकी निर्मिति होती है। कविता के समान वह रागात्मक तत्व का प्रकाशन नहीं कर सकता, वरन् अत्यन्त व्यापक धरातल पर जीवन के ठोस

वास्तविक स्वरूप को कल्पना के आधार पर इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि मानवीय भावों का प्रकाशन भी हो जाए और पाठक उन्हें अनुभूत भी कर लें। यह एक ऐसा साहित्य-रूप है, जिसके माध्यम से महान् चिन्तक और विचारक आदिम परम्पराओं और अनुभूयमान जीवन के सम्बन्ध में अपनी मानसिक प्रतिक्रिया अत्यन्त व्यवस्थित और विशद रूप में अभिव्यक्त कर सके हैं।

उपन्यास को किसी निश्चित परिधि में बाँधना और उसकी कोई निश्चित परिभाषा देना बहुत ही कठिन है। सुगठित कथाओं से युक्त रचनाएँ और विच्छिन्न कथा-प्रवाह की रचनाएँ भी उपन्यास ही कही जाती हैं। ज्वायस का 'यूलिसिस' जिसका कथा-प्रवाह विच्छिन्न है, उपन्यास नाम से ही अभिहित किया जाता है और लारेंस का सुसंगठित उपन्यास 'सन्स एण्ड लवर्स' भी इसी नाम से अभिहित होता है। हिन्दी में देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता संतति,' प्रेमचन्द का 'गोदान' और अज्ञेय का 'अपने-अपने अजनबी' सभी उपन्यास नाम से ही जाने जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपन्यास विधा का फलक अत्यन्त विस्तीर्ण है और इसमें ऐसी बहुत सारी रचनाओं का समावेश हो जाता है, जिनमें अनेक दृष्टियों से शैथिल्य है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि उपन्यास मानवीय जीवन के विविध पक्षों का प्रकाशन है। घटनाएँ लौकिक अलौकिक कैसी भी हो सकती हैं, किन्तु वे अंततः मानवीय जीवन से ही सम्बद्ध होंगी और किसी न किसी रूप में मानव-अनुभूति को ही प्रकाशित करेंगी, क्योंकि रचनाकार जो कुछ प्रस्तुत करेगा, उसमें उसके हृदयगत भाव और उसकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनुभूति का ही सस्पर्श रहेगा।

उपन्यास वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। "मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं।...लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है।"[2] उपन्यास और काव्य के पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध पर जोर देते हुए वे कहते हैं।

१. कुछ विचार, प्रेमचन्द, पृष्ठ ७१।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५११।

''जन्म और उत्थान के नाना रूपों को लेकर प्रचुर काव्य की बराबर सर्जना और उत्थान हो। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संघटन द्वारा विशिष्ट परिस्थितियों की उद्भावना को। उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं जो काव्य धारा के लिए नए मार्ग खोलती हैं।''[1] आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी उपन्यास की परिभाषा देते हुए कहते हैं। ''उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। आधुनिक उपन्यास केवल कथा मात्र नहीं है, और पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं की भाँति कथा-सूत्र का सहारा लेकर उपमाओं, रूपकों, दीपकों और श्लेषों की छटा और सरस पदों में गुम्फित पदावली की घटा दिखाने का कौशल भी नहीं है। यह आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और कथानक को इस प्रकार से सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नए उपन्यासों की आत्मा है। कथानक को मनोरञ्जक और निर्दोष बनाकर और पात्रों के सजीव चरित्र-निर्माण तथा भाषा को प्रभावशाली सहज प्रवाह की योजना के द्वारा उपन्यासकार अपने वैयक्तिक मत को ही सहज स्वीकार्य बनाता है। जिस उपन्यासकार के पास आधुनिक युग की जटिल समस्याओं के समाधान के योग्य अपना प्रबल वैयक्तिक मत नहीं है वह आधुनिक पाठकों को आकृष्ट नहीं कर सकता।''[2] डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार ''युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्य-काव्य उपन्यास कहलाता है।''[3] डॉ० श्यामसुंदर दास की परिभाषा है ''उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।''[4] डॉ० गुलाब राय के शब्दों में ''उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप में उद्घाटन किया जाता है।''[5] साहित्य क्षेत्र में उपन्यास ही एक ऐसा उपकरण है, जिसके द्वारा सामूहिक मानव-जीवन अपनी समस्त भावनाओं एवं चिन्ताओं

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१७।
२ हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४१३-४१४।
३. काव्य-शास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ७६।
४. साहित्यालोचन, पृष्ठ १८०।
५. काव्य के रूप, पृष्ठ १५।

आधुनिक युग का यदि सबसे महत्वपूर्ण [illegible] है। इसमें विविध ढंग से कथा
अपेक्षाकृत विस्तृत होता है और इसकी शैली स्वच्छ-स्वाभाविक होती है। उपन्यास
शैली की स्वाभाविकता उसकी रोचकता बनाए रखने में सहायक होती है। जो उपन्
इस प्रकार की शैली में नहीं लिखे जाते, वे रोचक नहीं बन पाते और उनकी प्रभावान्वि
खंडित हो जाती है। आजकल प्रयोगात्मक ढंग के जो उपन्यास लिखे गए हैं जि
कथानक छिन्न-भिन्न है, शैली दुरूह है और प्रभावान्विति बिखरी हुई है। उन्हें अभ्यास
ही उपन्यास कहा जाता है, अन्यथा उनमें औपन्यासिक तत्वों का नितान्त अभाव है।

उपन्यास मूलतः जीवन और जगत् को विशद रूप में प्रकाशित करता है। लेख
की जीवन और जगत् की अनुभूति जितनी व्यापक और गहरी होगी, उसका औपन्यासि
दर्शन भी उतना ही व्यापक और गंभीर होगा। उपन्यास में लेखक का निजी जीव
दर्शन प्रतिबिम्बित होता है। पाठक सामान्यतः उसी के माध्यम से जीवन और ज
को देखता है। यदि लेखक का कोई वैयक्तिक जीवन-दर्शन नहीं है तो यह बात निश्चि
है कि वह अपने पाठकों पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता।

उपन्यास की कथा काल्पनिक होती है, किन्तु वह यथार्थ जगत् का ही आभा
प्रस्तुत करती है। इसी कारण हम उसे काल्पनिक यथार्थ अथवा औपन्यासिक यथा
कहते हैं। यह औपन्यासिक यथार्थ जागतिक यथार्थ की तुलना में अधिक प्रभावशा
होता है।

लेखक लौकिक-अलौकिक किसी प्रकार की भी कथा का आश्रय ग्रहण कर सक
है, किन्तु वह जो कुछ भी प्रस्तुत करेगा, उसमें उसकी निजी अनुभूति, संवेदना, भाव
बोध का ही प्रकाशन होगा। इस प्रकार उपन्यास मानवीय अनुभूति को सहज अभि
व्यक्ति का अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम है।

कहानी के समान उपन्यास की घटनाएँ कालक्रम में नहीं रखी जाती, वर
औपन्यासिक प्लॉट की घटनाएँ कार्य-कारण की शृंखला में व्यवस्थित की जाती है
उपन्यास और कहानी में जो भिन्नता है, वह केवल आकार का ही नहीं है, वरन्
बहुत कुछ प्रभाव का है। कहानी का प्रभाव संहत और तीव्र होता है, जबकि उपन्यास
प्रभाव के लिए व्यापक क्षेत्र रहता है। कहानीकार की दृष्टि प्रभाव की संहति औ
तीव्रता पर ही अधिक रहती है और उसी के आधार पर वह अपनी कहानी के तन्
का विस्तार और संकोचन करता है। प्रभावान्विति की ओर विशेष झुकाव होने
कारण कहानी की गति क्षिप्र होती है, जबकि उपन्यास की गति मंथर होती है
उपन्यास अपनी व्यापकता में सागर के समान होता है, जबकि कहानी पर्वतीय कल्लोलि
के समान क्षिप्रगामिनी होती है। उपन्यास जीवन का व्यापक और विशद चित्र प्रस्
करता है, जबकि कहानी जीवन की झलक-मात्र प्रस्तुत करती है।

उपन्यास पाठक की कल्पना के सामने नया संसार प्रस्तुत करता है। कभी-कभी उसे अन्वेषित करना पाठक को रुचिकर प्रतीत होता है। कुछ उपन्यासों में कल्पना-जगत् ऐसी भ्रांति उत्पन्न करता है, और ऐसा रुचिकर प्रतीत होता है कि पाठक उसमें डूब जाने में संतोष का अनुभव करता है। पाठक उपन्यास में डूब जाने की अपेक्षा यदि उसे अनासक्त भाव से ग्रहण करता है, तभी वह उस रूप की निर्मिति कर सकता है, जिसकी उसे खोज रहती है। उपन्यास जीवन का चित्र है। पाठक यदि जीवन से परिचित है तो उसे यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि जो उपन्यास उसके सामने है वह क्या जीवन के समान ही सत्य, स्पष्ट और संप्रत्ययात्मक है। इसी आधार पर वह आस्वादन-आलोचन कर सकता है।

फॉर्स्टर के अनुसार उपन्यास में कहानी-तत्व प्रधान होता है। यह उपन्यास का मौलिक पक्ष है, जिसके बिना उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। उपन्यास का यह ऐसा पक्ष है जो समस्त उपन्यासों में सामान्य होता है। यह रीढ के समान होता है। इसका आरम्भ और इसका अंत आकस्मिक होता है। पाठक यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आगे क्या हुआ। उत्सुकता सार्वभौमिक है और इसी कारण उपन्यास की रीढ कहानी है। कुतूहल मानव की आदिम वृत्ति है। कहानी घटनाओं का काल-क्रम से वर्णन प्रस्तुत करती है। इसमें कुतूहल जाग्रत करने की प्राथमिक शक्ति होनी चाहिए। यदि इसमें कुतूहल जाग्रत करने की शक्ति नहीं होगी तो इसमें एक प्रकार का शैथिल्य आ जाएगा।

उपन्यासकार अपनी कृति का आरम्भ अपनी अनुभूति के आधार पर करता है। जीवन का प्रत्यक्ष प्रभाव किस रूप में उस पर पड़ता है और जीवन का निरीक्षण वह किस रूप में करता है, वस्तुतः यही वह आधार होता है, जिस पर उसकी कृति अवलम्बित रहती है। किन्तु अपनी अनुभूति को अपनी रचना में प्रयुक्त करने से पूर्व उसे ऐसी क्षमता विकसित करनी चाहिए, जिससे वह अपनी अनुभूति को दूरीकृत रूप में प्रस्तुत कर सके। ऐसा होने पर वह अपनी कृति में क्रियात्मक रूप में विद्यमान भी रहेगा और एक प्रेक्षक के रूप से दूर भी स्थित रहेगा। जीवन के निकट सम्पर्क में रहने वाले कलाकार ही महत्वपूर्ण कृतियाँ सर्जित कर सकते हैं। उपन्यास सामाजिक जीवन के तत्वों का प्रतिबिम्ब होता है। इस कारण जीवन से निकट सम्पर्क होना कलाकार के लिए अनिवार्य होता है। उपन्यासकार की वैयक्तिक भावनाओं का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उसकी रचना पर प्रभाव पड़ना अपरिहार्य है और आवश्यक भी है, किन्तु लेखक के लिए इस बात की सतर्कता आवश्यक होती है कि उसकी रचना में आत्मकथात्मक भावनाओं का प्राधान्य न हो जाए। विषय अथवा साहित्यिक रूप का अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं होता, उनमें लेखक की उपस्थिति महत्वपूर्ण होती है। लेखक

की चेतना उन सब पर काम करती है, जिन्हे वह देखतो और प्रस्तुत करती है औ वह यथार्थ को अपने अनुरूप प्रस्तुत करती है। इसी कारण टॉलस्टॉय ने लेखकों क सलाह दी है कि वे विश्व के प्रति स्पष्ट और टटकी दृष्टि निर्मित करने का प्रयत्न करें

उपन्यास की रचना मे उपन्यासकार के दृष्टिकोण का बहुत बड़ा महत्व होता है उसका दृष्टिकोण उसकी रचना की अन्विति, विशेषता और सगति को अत्यधिक प्रभावि करता है। हेनरी जेम्स की मान्यता है कि उपन्यास का रूप (Form) ही उसका तत्त है, क्योंकि रूप के बिना तत्व हो ही नहीं सकता। टॉलस्टॉय का मत है कि प्रत्येक कलाका अपने निजी रूप (Form) का निर्माण करता है। स्टीवेन्सन के अनुसार प्रत्येक नवी विषय मे सच्चा कलाकार अपनी पद्धति परिवर्तित कर देगा और विषय पर प्रकाश डाल का दृष्टिकोण भी परिवर्तित कर देगा। ल्यूबक ऐसा मानते हैं कि कलाकार अपं विषय, प्रणाली और विषय-निरूपण के कोण के आधार पर चार प्रकार की संरचन में से कोई एक निर्मित कर सकता है। (१) किसी समाज अथवा युगविशेष की प्रवृत्तिय और स्थितियों की आलोचना करते हुए उपन्यासकार अन्तर्भावकारी सर्वदर्शी लेख जैसा प्रतीत होता है। वह जीवन के जिन चित्रों को अकित करता है उनमे हास्योद्रेचक तत्व, व्यंग्य और व्याजोक्ति आलोचनात्मक व्यूह के साधन होते हैं। इस प्रका के लेखक का वाग्वैदग्ध्य और नव निर्माण-क्षमता उसकी कहानी और उसकी सतह कृतियों के स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण मे सहायक होती है, किन्तु उसकी रचना के रूप क अभिप्राय तथा व्यक्तित्व प्रकाशन के प्रच्छन्न अवकाश को उसकी अन्तर्दृष्टि दब जात है। फील्डिंग और डिकेन्स के उपन्यासों की सरचना इस प्रकार की है। (२) दूसरे प्रकार की संरचना का उपन्यासकार वैयक्तिक भावनाओं और मनोवेगों के विश्लेषण-रूप

कथानक या कथावस्तु

फॉर्स्टर के अनुसार काल-क्रम में व्यवस्थित घटनाओं का वर्णन कहानी है। कथानक भी घटनाओं का ही वर्णन है, किन्तु उसमें कारण-कार्य शृंखला पर अधिक बल दिया जाता है। 'राजा मर गया और तब रानी मर गई,' यह कहानी है। 'राजा मर गया और राजा की मृत्यु से दुखित रानी मर गई', यह कथानक है। इसमें काल-क्रम सुरक्षित है, किन्तु कारण-कार्य शृंखला का भाव उस पर छा गया है। अथवा पुनः इस रूप में कहा जा सकता है 'रानी मर गई, कोई तब तक यह जान न सका, क्यों? जब तक कि यह न जाना जा सका कि राजा की मृत्यु से दुःखित होकर वह मर गई।' यह ऐसा कथानक है, जिसमें रहस्य भी है और जो उच्च स्तर पर विकसित किया जा सकता है। इसमें काल-क्रम का विराम हो जाता है और यह कहानी से वहाँ तक दूर हो जाता है, जहाँ तक इसकी सीमाएँ दूर होने देती हैं। रानी की मृत्यु पर ही विचार किया जाए। यदि कहानी है तो प्रश्न उठेगा 'और तब?' और यदि कथानक है तो प्रश्न होगा 'क्यों?' उपन्यास के उक्त दोनों स्वरूपों में यही मौलिक अंतर है। कथानक असावधान व्यक्तियों के सामने प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वे 'और तब' तक ही सीमित रहेंगे। उसमें केवल कुतूहल होगा, जबकि कथानक को प्रशंसित करने के लिए बुद्धिमानी और स्मरण-शक्ति दोनों आवश्यक हैं। कुतूहल आदिम वृत्ति है जो उपन्यास के कथानक को समझने में सहायभूत नहीं होता। कथानक में रहस्य अथवा विस्मय का कोई न कोई तत्त्व होता है, किन्तु इसकी प्रशंसा बुद्धिमान् व्यक्ति ही कर सकता है। 'और तब' कहने वाला पाठक प्रशंसा करना तो दूर, उसे ग्रहण भी नहीं कर सकता। बुद्धिमानी और स्मरण-शक्ति दोनों का निकट सम्बन्ध है। जो स्मरण नहीं रख सकता, वह समझ भी नहीं सकता। कथानक-निर्माता भी अपने पाठकों से अपेक्षा रखता है कि वे कथानक के सूत्र और तत्त्व को स्मरण रखें और पाठक भी चाहते हैं कि कथानक निर्माता मर्यादित रूप में, शब्दों का अपव्यय किए बिना अपने कथानक को प्रस्तुत करे। सामान्य अथवा जटिल कथानक का प्रवाह तभी अविच्छिन्न रूप में

अधिक समीचीन सिद्ध होगा। किसी भी कला-कृति का समग्र रूप में अध्ययन ही उपादेय सिद्ध होता है। अंग-उपांग को पृथक्-पृथक् कर देखने से कला-सौंदर्य कुछ सीमा तक तिरोहित हो जाता है, तथापि कला-सौंदर्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए अंग-उपांगों का अध्ययन अनिवार्य प्रतीत होता है। अंगों-उपांगों का यथोचित विकास, संतुलन और सम्मिति ही कला-कृति के सम्यक् विकास, संतुलन और सम्मिति के निर्णायक होते हैं और उसकी प्रभावान्विति के नियामक तत्व होते हैं। किसी भी सुन्दर कला-कृति के सौंदर्य का निर्माण उसके अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य पर ही निर्भर करता है। उपन्यास-साहित्य भी आधुनिक कला-रूपों में अत्यन्त समादृत और बहुचर्चित कला-रूप है। आज तक के इसके विकास को देखते हुए हम इसके छह तत्वों के सम्बन्ध में कुछ बातें कहने की चेष्टा करेंगे। उपन्यास-साहित्य की आरम्भिक आलोचना के साथ ही ये छहों तत्व उपन्यास के साथ जोड़ दिए गए हैं और उन्हीं के आधार पर किसी भी उपन्यास का आलोचन-विवेचन किया जाता है। इस प्रकार का आलोचन-विवेचन स्थूल दृष्टि का ही परिचायक है, क्योंकि समग्र रूप में रचना का प्रभाव ही उसकी विशेषता-महत्ता का प्रकाशक होता है। हमारा यह विवेचन सैद्धान्तिक है। इस कारण परम्परा से गृहीत छहों तत्वों का विशद विवेचन नितान्त अपेक्षित है। ये तत्व हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन, काल और व[illegible] शैली और उद्देश्य। एक-एक तत्व का हम आगे एक-एक अध्याय में अलग-अल[illegible]

क्रिया से सर्वदा विपरीत हो। पात्रों के ऐसे मनोभाव, सुख-दुख हो सकते हैं जिन्हें कथानक के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

अरस्तू के अनुसार कथानक अपने-आप में पूर्ण होना चाहिये और उसकी एक ही क्रिया प्रधान होनी चाहिए। उसका प्रारम्भ, मध्य और अंत होना चाहिए। क्रिया-न्विति पर उन्होंने ज्यादा जोर दिया है। कवि या लेखक को यथार्थ घटना प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। उसे सम्भाव्य घटना का वर्णन करना चाहिए। वस्तुतः उसे कथानक निर्मिति में इतना कुशल होना चाहिए कि वह काल्पनिक रूप से जो कुछ भी प्रस्तुत करे, यथार्थ जगत् में किसी न किसी रूप में उस प्रकार की घटना सम्भाव्य प्रतीत हो। अरस्तू कथानक के दो प्रकार मानते हैं—सरल और जटिल। कथानक की सरलता और जटिलता को अरस्तू ने क्रिया की सरलता और जटिलता से सम्बद्ध किया है, किन्तु नाटक पर यह सिद्धान्त प्रयुक्त किया जा सकता है। जहाँ तक साहित्य की अन्य विधाओं का प्रश्न है, क्रिया के आधार पर सरलता और जटिलता का निश्चय नहीं किया जा सकता, वरन् कथानक का घटना-क्रम ही उसका निर्णायक हो सकता है।

उपन्यास का कथानक दो प्रकार का होता है—सरल और गुम्फित। सरल कथानक में एक ही कहानी होती है, उसमें सहायक कहानियाँ नहीं होतीं। गुम्फित कथानक में एक से अधिक कहानियाँ होती हैं। प्रधान कहानी को आधिकारिक और गौण को प्रासंगिक कहते हैं। सरल कथानक के निर्माण में लेखक को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता, पर गुम्फित कथानक के निर्माण में उसे अधिक सावधान रहना पड़ता है। एक से अधिक कहानियों को एक सूत्र में इस प्रकार गुम्फित करना पड़ता है कि वे आपस में मिलकर एक हो जाएँ। ऐसा न हो कि किसी कहानी का सूत्र ऊपर से चिपकाया हुआ प्रतीत हो। दो या अनेक कथाओं को एक सूत्र में जोड़ने के लिए अतिरिक्त सावधानी अपेक्षित होती है और कथाओं को इस रूप में रखना पड़ता है कि ऐसा प्रतीत हो कि आधिकारिक कथा के भीतर से ही प्रासंगिक कथा का विकास अनिवार्य रूप से हो गया है। इस प्रकार के कथा सूत्रों को जोड़ने में कभी-कभी बड़े-बड़े कलाकार भी चूक जाते हैं। बहुत से लोग प्रेमचन्द के 'गोदान' के दोनों कथानकों को लेकर यह प्रश्न उठाते हैं कि दोनों एक दूसरे से मिल नहीं पाये हैं, दोनों के अस्तित्व स्वतन्त्र हैं और दोनों दो समानान्तर रेखाओं के समान एक दूसरे से समान दूरी पर प्रवहमान हैं, कहीं-कहीं एक दूसरे को छू कर पुनः समानान्तर दूरी प्राप्त कर लेते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों एक दूसरे से मिलकर एकाकार नहीं हो गए हैं, दोनों के मिलन से कोई घोल तैयार नहीं हुआ है और जो सम्भव भी नहीं था क्योंकि प्रासंगिक कथानक आधिकारिक के प्रवाह में सहायक होकर किसी न किसी रूप से अपना अस्तित्व भी बनाए रहता है जो अधिकांशतः आधिकारिक के अस्तित्व पर निर्भर करता

प्रवाहित हो सकता है, जब कि कथानक-सृष्टा पाठकों की स्मरण-शक्ति को ध्यान में रखकर विशेष का इंगित करते हुए यथा कथानक को नया मोड़ देता है अथवा स्वाभाविक रूप से प्रवाहित करता हुआ विस्मय या रहस्य का सृजन करता है अथवा उसे उद्घाटित करता है।

वही कथानक विशेष रूप से सार्थक होता है जिसमें रहस्यात्मकता इस रूप में होती है कि पाठक पढ़ता जाता है और रहस्य की परतें उभरती जाती हैं। कभी-कभी घटनाओं का रहस्यात्मक रूप ऐसा होता है जो पात्रों और चरित्रों के स्वाभाविक विकास में नया मोड़ प्रस्तुत कर देता है और पात्र या चरित्र पाठकों के सामने पूर्णतया भिन्न रूप में आते हैं। कथानक तभी कलात्मक रूप में मूल्यवान् हो सकता है और मनोरंजक भी, जबकि वह सभी प्रकार की वर्णनात्मक कला के साथ उपन्यासकार की केन्द्रीय विचार-धारा को सहायता पहुँचाए।

कथानक का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'छोटी कथा' होता है, कथा के सारांश तक इसको घसीटा जा सकता है। परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में इसका अर्थ-विस्तार हो गया है। अपने विशिष्ट रूप में इसका अभिप्राय है साहित्य के कथात्मक रूपों—गाथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि का वह तत्व, जो उसमें वर्णि काल-क्रम से शृंखलित घटनाओं को रीढ़ की हड्डी की तरह दृढ़ता देकर गति देता और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेल की भाँति उगती, बढ़ती और फैलती हैं। सी तौर पर कह सकते हैं कि कथानक का अर्थ है कार्य-व्यापार की योजना। कथा या कहा भी साधारणतः कार्य-व्यापार की योजना ही होती है, परन्तु कैसी भी कोई कथ कथानक नहीं कही जा सकती। (हि० सा० को०)

अरस्तू ने त्रासदी में कथानक की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है त्रासदी किसी क्रिया का अनुकरण है और क्रिया का अनुकरण पात्र अपने व्यवहा और भावों से प्रस्तुत करते हैं। क्रिया का अनुकरण कहानी है : कहानी से अभि है घटनाओं का संघटन या कथानक। अरस्तू की यह स्थापना है कि सभी प्रकार दुःख और सुख क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं। यही क्रिया और कहानी त्रासदी अन्तिम लक्ष्य हैं। अरस्तू की यह स्थापना त्रुटिपरक है। मानव के सुख-दुःख क्रिया- न होकर बहुत कुछ गोप्य और रहस्यमय होते हैं, व्यक्ति के निजी, अज्ञात व्यक्ति से सम्बद्ध होते हैं, जिन्हें उपन्यासकार अपने ढंग से प्रकट करता है। यदि अरस्त आधुनिक उपन्यासों को देखा होता तो वे इस प्रकार की स्थापना न करते। सामान्य उनकी दृष्टि में नाटक ही थे और नाटक में ऐसा ही होता है, जैसा कि उन्होंने कहा किन्तु उपन्यास की भूमि दूसरी होती है, जिसमें उपन्यासकार अपने पात्रों के अवचे मस्तिष्क में भी प्रवेश कर ऐसा कुछ उद्घाटित कर सकता है जो उनके व्यवहार

नामांतर अवश्य है और प्रत्येक में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, किन्तु यहाँ पर दोनों का अन्तर दिखाना अवाछनीय नहीं है। भारतीय परम्परा में अवस्था के साथ संधियाँ और अर्थप्रकृतियाँ भी हैं, जो सब मिलकर कथा-वस्तु को गठित रूप प्रदान करती हैं; परन्तु उपन्यास का कथानक नाटक के कथानक के समान नहीं होता। इस कारण उसमें अवस्थाओं, संधियों और अर्थप्रकृतियों की खोज करना निरर्थक है। कुछ सीमा तक अवस्थाएँ प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु वे उस रूप में नहीं प्राप्त की जा सकतीं, जिस रूप में वे नाटकों में प्राप्त होती हैं।

कथानक का विषय—जीवन और जगत् अत्यन्त विस्तीर्ण है और कलाकार की प्रतिभा उसके भीतर प्रवेश करने की शक्ति रखती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन और जगत् की तुलना में व्यक्ति कलाकार अत्यन्त छोटा है। वह उसकी मनन गहराई तक पहुँचने में असमर्थ है। निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी वह विराट विश्व के प्रच्छन्न गुप्त समस्त तत्वों को ग्रहण नहीं कर सकता और उन सबको अपनाकर अपनी अनुभूति के कोश में सुरक्षित नहीं रख सकता, पर वह कुछ निजी अनुभूति के सहारे और कुछ दूसरों की अनुभूति के सहारे विराट् विश्व के रहस्यमय तत्वों को समझ सकता है तथा अपने कल्पना-सम्बल के सहारे उनका मनोरम चित्र प्रस्तुत कर सकता है। उसके सामने हो जो संसार है, जिसका वह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है, वही इतना विशाल और व्यापक है कि वह उसे सहस्रों उपन्यास का कथानक दे सकता है। कलाकार के पास परखने की आँखें होनी चाहिए, नदियाँ अपने कलकल-छलछल निनाद में अपनी कहानियाँ सुना सकती हैं, सागर तरल लहरों के माध्यम से अपने जीवन का उद्गीथ गा सकता है, पर्वत अपने उत्तुंग शिखरों पर सहराती बल खाती हवा से प्रणय-निवेदन कर सकता है, नगर अपनी गाथा सुनाने के लिए व्यग्र हो उठेगा, गाँव रस ले लेकर आप बीती सुनाएगा, धूल कुछ कहने को उत्सुक हो उठेगी, पत्थर की शिला तड़पड़ा उठेगी, कण-कण बोल उठेगा, जर्रा-जर्रा शोर उठेगा। किन्तु उसके पास आँखें चाहिए, कलात्मक आँखें, जिनसे वह यह सब सुन सके और पहचान सके। सारा जीवन ही कथानकों से भरा हुआ है और प्रत्येक कथानक अर्थबिन्दु और संवेदनशील है। निर्माता शिल्पी उसे अपनी गति दे सकता है, अपनी चेतना दे सकता है। अंततः दृष्टि उसी की होती है और वही दृष्टि कथानक के रूप को ढालती और सँवारती है। अतः कभी यह सोचना कि विषय नहीं है, समस्या नहीं है, केवल आत्म-दौर्बल्य व्यक्त करना है। आँखें खोलकर देखो सौन्दर्य हो ही जाएगा। सचमुच देखने के लिए आँखें चाहिए। प्रेमचन्द उपन्यास के कथानक के स्रोत के बारे में कहते हैं—'अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा में भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों

कि उसके कहीं से भी अविश्वसनीयता की गंध न आ सके।

कुछ ने आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि कथानक का सत्य होना आवश्यक होता है। किन्तु सत्य कथानक को भी असफल कलाकार प्रभावहीन बना सकता है। कला का विषय केवल सत्य ही नहीं है, वरन् सत्य की संभावना है। उपन्यासकार इतिहास लेखक नहीं है कि वह अपनी रचना में सत्य का आकलन प्रस्तुत करे, वरन् वह तो कलाकार है और वह अपनी रचना में कलात्मक सत्य (औपन्यासिक सत्य) की प्रस्तुति करता है। कलात्मक सत्य का विषय 'है' नहीं है, 'हो सकता है' है। कलात्मक सत्य 'घटित' पर जोर न देकर संभावना पर जोर देता है कथानक असंभाव्य को भी संभाव्य रूप में प्रस्तुत कर सकता है और इसी में उसकी कलाकुशलता निहित है। परन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सत्य या यथार्थ घटना कला का विषय नहीं बन सकती। कैसी भी घटना क्यों न हो, वह कला का विषय बन सकती है, परन्तु कला का विषय बनने पर उसे कला के विधान से अनुशासित होना पड़ता और प्रत्येक प्रकार से कथानक का विश्वसनीय होना अनिवार्य है।

साहित्य मानव-जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। मानव-जीवन ऊपर से कितना ही व्यवस्थित क्यों न प्रतीत हो, किन्तु वह व्यवस्थित नहीं है। वह अनेक प्रकार की आकस्मिकताओं से घिरा हुआ है। हम उसे आकस्मिकताओं का पुंज कह सकते हैं। इसी प्रकार कथानक भी पूर्णतया ऋजु-सरल और अनुरस नहीं हो सकता। यथार्थता के साथ वह आकस्मिकताओं से भी युक्त रहता है। यदि उसमें आकस्मिकताएँ न हों, तो पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति भी नहीं रहेगी। कथानक की आकस्मिकताएँ कभी-कभी ऐसी होती हैं कि कथानक का सारा प्रवाह ही किसी अन्य दिशा में अभिधावित होने लगता है। वह कथानक अत्यधिक प्रभविष्णु बन पाता है, जिसमें सार्वजनीनता और सार्वकालिकता के साथ असाधारणता का सामंजस्य रहता है। असाधारणता अप्रत्याशित किन्तु स्वाभाविक मोड़ों और आकस्मिकताओं के माध्यम से निर्मित होती है। आश्चर्य और कुतूहल का सृजन इस प्रकार के वस्तु-संघटन से ही संभव है। लेखक को आकस्मिकताओं के प्रयोग में अतिरेक से बचना चाहिए और घटना-प्रवाह की स्वाभाविकता को बनाए रखना चाहिए।

कथानक की मौलिकता—सारा जीवन और जगत् ही उपन्यास का विषय है। जीवन जटिल है और निरन्तर जटिल होता जा रहा है। जीवन और जगत् की समस्याएँ असंख्य हैं और निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। पहले भी समस्याएँ थीं, आज भी हैं और कल भी रहेंगी। कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें हम सामयिक कह सकते हैं और कुछ ऐसी होती हैं जो अपना शाश्वत् महत्व रखती हैं। सभ्यता के ऊपरी स्तर की समस्याएँ सामयिक होती हैं और मानव-वृत्तियों

जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं।......" "उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए।" (कुछ विचार, पृष्ठ ८५)

कभी-कभी लेखक ऐसा सोचते हैं कि पहले के लेखकों ने अधिकांश कथानक-स्रोतों को झूठा कर दिया है। उनके लिए ऐसा कुछ भी शेष नहीं है, जिस पर वे अपनी लेखनी चला सकें। यह वस्तुतः लेखक की अपनी असमर्थता का उद्घोष है। पहले विषयों और समस्याओं का अभाव नहीं है। प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं, जिन्हें लेखक अपने कथानक का विषय बना सकते हैं और जो सार्वजनीन, संवेदनशील विषय हैं, उनमें युगानुरूप कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि उनका मूल रूप अक्षुण्ण बना रहता है। लेखक सार्वजनीन, संवेदनशील विषय को अपने युग के परिप्रेक्ष्य में अपनी दृष्टि से देखेगा। यदि वह अपने युग के परिप्रेक्ष्य में अपनी दृष्टि से, यदि उसके पास कोई दृष्टि हो, देख सका तो विषय का कथानक भिन्न होगा और यही उसकी नवीनता होगी। साथ ही पूर्वापेक्षा आज का जीवन जटिलतर है। आज ऐसी-ऐसी समस्याएँ हैं, ऐसे-ऐसे जटिल विषय हैं, जिनकी पूर्ववर्ती लेखकों ने कल्पना भी नहीं की होगी और वर्तमान जटिल-विषम समस्याओं और विषयों ने लेखक-कर्म को और अधिक जटिल और दुरूह बना दिया है। अतः उनका सामना करना लेखक का प्रमुख कर्तव्य है। युग की चुनौती को यदि वह स्वीकार कर सकेगा, तभी वह अपने दायित्व का सम्यक् निर्वाह कर सकेगा। ऐसी स्थिति में विषयाभाव की बात करना मात्र अपनी बुद्धि के दिवालियेपन का उद्घोष करना है।

उपन्यास का कथानक किसी भी स्रोत से ग्रहण किया जा सकता है। कथानक किसी प्रकार की घटना से निर्मित हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कथानक की निर्मिति किसी यथार्थ घटना पर ही आधृत हो, क्योंकि कथानक का निर्माण कला के स्वनिर्मित विधान के अनुसार होता है और कला यथार्थ की प्रतिकृति नहीं है। उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह किसी भी प्रकार के कथानक का अपनी रचना के लिए उपयोग क्यों न करे, किन्तु यह ध्यान रखे कि उस कथानक का निर्माण परम्परा-विहित विधान के अनुसार हो और यदि ऐसा न भी हो, तो भी कथानक का निर्माण ऐसा होना चाहिए जो विश्वसनीय हो। किसी प्रकार का कथानक क्यों न हो, पर विश्वसनीयता उसकी सफलता की कसौटी है। यथार्थ घटना पर आधृत कथानक यदि विश्वसनीय सिद्ध नहीं हुआ तो कला की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण नहीं है और यदि कल्पित घटनाओं पर आधृत कथानक विश्वसनीयता की कसौटी पर खरा उतर गया तो वह कला की दृष्टि से अधिक उपादेय सिद्ध होता है। कथाकार असंभाव्य को भी इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि वह संभाव्य प्रतीत हो। कथाकार को वस्तुतः सिद्धहस्त जिल्दसाज होना चाहिए, परन्तु सिलाई की प्रस्तुति इस रूप में करनी चाहिए

रोचक तत्व होते हैं, किन्तु जब उपन्यास में ऐसे तत्वों का ह्रास हो जाएगा तो उपन्यास की रोचकता समाप्त हो जाएगी। रचना पढ़ने में पाठक का कुतूहल तब भी बना रहता है, जबकि लेखक रोचक और सरस शैली में अपनी रचना प्रस्तुत करे। उपन्यास की शैली सामान्य स्थिति से आकर्षक और सहज होनी चाहिए, भाषा में यथेष्ट प्रवाहमयता होनी चाहिए, अन्यथा कुतूहल जाग्रत करने के समस्त तत्व के होते हुए भी उपन्यास अपेक्षित रूप में समादृत नहीं हो सकेगा।

आकस्मिकता और अप्रत्याशित घटना-वृत्ति भी कुतूहल को जाग्रत करने में सहायक होती है। लेखक कार्य-कारण-शृंखला में ही उनका नियोजन कर सकता है; किन्तु कुतूहल को बनाये रखने के लिए आवश्यक रूप में आकस्मिकता अथवा अप्रत्याशित घटना का सृजन उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक होता है और लेखक को ऐसे प्रयत्न से विरत रहना चाहिए।

कथानक के निर्माण में लेखक का कौशल विशेष महत्वपूर्ण होता है। कथानक की पूर्णता पर उसको अपेक्षित ध्यान देना होता है। जिस रूप में कथानक का आरम्भ हो उसी रूप में उसका अन्त भी होना चाहिए। सामान्यतः लेखक आरम्भ के समय उत्साह से लबालब भरा रहता है। इस कारण वह अपनी रचना का भव्य और उदात्त आरम्भ करता है। कथानक को अत्यन्त परिष्कृत रूप से प्रस्तुत करता है। एक सीमा तक उसका उत्साह बना रहता है और वह धीरे-धीरे परिक्षीण होने लगता है। इसका प्रभाव उसके कथानक के स्वाभाविक विकास पर पड़ता है। उसमें परिसमाप्ति की अनावश्यक आतुरता उत्पन्न हो जाती है और वह घटना-क्रम के विकास को समेटने का प्रयत्न करने लगता है। परिणाम स्पष्ट है। कथानक का समुचित निर्वाह नहीं हो पाता। बड़े से बड़े उपन्यासकार में इस प्रकार की दुर्बलता परिलक्षित होती है। कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं कि वे आरम्भ अत्यन्त सुन्दर रूप में कर लेते हैं और अतिरिक्त उत्साह के कारण घटना-चक्रों का विशाल ताना-बाना बुन लेते हैं, किन्तु आगे चलकर उस विशाल फलक को सँभाल नहीं पाते और उनका सारा आयोजन पथभ्रष्ट हो जाता है। कथानक का समंजस विकास और पूर्णता बहुत ही आवश्यक है, पर विरल रचनाओं में ही वह प्राप्त होती है। बड़ी रचनाओं की तुलना में छोटी रचनाओं में वह अधिक सम्भव है, क्योंकि छोटी रचना के कथानक की स्वाभाविकता को बनाए रखना अधिक सहज है।

कथानक और चरित्र का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मूल कथानक है अथवा चरित्र, इसका उत्तर देना कठिन है। दोनों की अन्योन्याश्रयता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कथानक से चरित्र का विकास हो और चरित्र से कथानक का। कार्य-व्यापार का स्वरूप ही ऐसा हो कि उसमें चरित्र विकसित होता जाए और चरित्र का स्वरूप ऐसा

से सम्बद्ध समस्याएँ शाश्वत और सार्वकालिक होती हैं। उनका बाह्य रूप युगानुरूप परिवर्तित होता रहता है, पर उनका मूल स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। ऐसी समस्याओं में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है प्रेम-तत्त्व और इसके अनन्तर भूख। विश्व साहित्य का संभवतः नब्बे प्रतिशत साहित्य प्रेम-तत्त्व से सम्बन्धित है। भूख की समस्या भी सार्वकालिक ही है, पर आधुनिक युग में इसकी ओर कलाकारों और लेखकों का ध्यान अधिक गया है। सामयिक समस्याओं को भी मानव की मूलवृत्तियों से सम्बद्ध करके सार्वकालिक बनाया जा सकता है। जीवन के किसी पक्ष को लेकर चलने वाला कथानक तब तक मौलिक कहा जा सकता है, जब तक लेखक किसी अन्य लेखक के कथानक का अंधानुकरण न करने लगे। एक ही कथानक को दो लेखक अपने उपन्यास का विषय बना सकते हैं। दोनों में अपने विशेष दृष्टिकोण के कारण मौलिक अंतर आ जाएगा। मौलिकता लेखक के दृष्टिकोण और प्रतिपादन-शैली में निहित है। किन्तु किसी एक घिसी-पिटी लकीर पर चलने की तुलना में स्वयं अपने पथ का निर्माण करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जो जीवन-जगत् के समस्त तत्वों को समझते हुए किन्हीं विशिष्ट किन्तु अन्य की आँखों से अस्पष्ट तत्व को ग्रहण कर उसके आधार पर अपने कथा-तंतु की निर्मिति करता है, वह वस्तुतः मौलिक लेखक है। उच्च कोटि के लेखक प्रायः दूसरे लेखकों द्वारा गृहीत कथानकों को न ग्रहण कर स्वतः अपने कथानकों का निर्माण करते हैं और यदि कभी किसी कारणवश ग्रहण भी करते हैं तो उन्हें अपनी प्रतिभा के स्पर्श से नया रूप दे देते हैं। जीवन में घटनाओं का ऐसा व्यूह है कि उनके आधार पर असंख्य कथानकों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु उन्हें पहचानने की दृष्टि चाहिए और यह दृष्टि प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों के पास स्वभावतः होती है। मौलिक कथानक लेखक के दृष्टिकोण और प्रतिपादन-शैली के कारण बहुत ही स्वाभाविक रूप में विकसित होते हैं और पाठकों पर उनका प्रभाव बहुत ही अच्छा पड़ता है। एक ही कथानक कई लेखकों से प्रयुक्त होकर लेखकों की गुणवत्ता और विशेषता का परिचायक हो जाता है। उससे किन्हीं दो लेखकों की जीवन-दृष्टियों और प्रतिपादन-शैलियों का स्पष्ट अंतर परिलक्षित हो जाता है।

कथानक में पाठकों के कुतूहल को बनाए रखने की क्षमता होनी चाहिए। कुतूहल मानव की आदिम वृत्ति है और बहुत ही सतही वृत्ति है। सनसनीखेज रचनाएँ कुतूहल जागरित करने में अधिक सफल सिद्ध हो सकती हैं और उच्चकोटि की रचनाओं में इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता; किन्तु किसी न किसी रूप में कुतूहल का होना आवश्यक होता है। उपन्यास में 'और तब' का प्रश्न न होकर 'क्यों' का प्रश्न होता है। 'क्यों' कुतूहल के औदात्य का संकेतक है। लेखक की रचना में जो रहस्यात्मकता होती है और समस्याओं के जो अनेक मोड़ होते हैं वे सब पाठक के कुतूहल के

वर्जिनिया वुल्फ भी उपन्यास को व्यवस्थित और संघटित रूप देना आवश्यक नहीं समझतीं। उनकी दृष्टि में उपन्यास यदि जीवन का चित्र है तो उसे जीवन के समान ही विशृंखलित और अव्यवस्थित होना चाहिए। उनका विचार है कि जिस प्रकार मन में अनेक प्रकार के भाव उदित होते हैं और उनका कोई क्रम नहीं होता उसी प्रकार उपन्यास की क्रिया का विकास भी बिना किसी क्रम के होना चाहिए। सामान्य स्थिति में वे उपन्यास को जीवन का चित्र भी स्वीकार नहीं करतीं। उनकी मान्यता है कि यदि लेखक अपनी रचना को अपनी भावना पर ही आधृत करे और परम्परा को छोड़ दे तो उसकी रचना का कोई कथानक नहीं होगा, कोई त्रासदी या कामदी नहीं होगी, प्रेम और संघर्ष की स्वीकृत परम्परा के अनुसार कोई घटना नहीं होगी। जीवन क्रम में व्यवस्थित वस्तुओं का कोई क्रम नहीं है, जीवन प्रकाशमय तेजोदीप्त आनन्द का आलोक है, एक अर्द्ध-झिलमिलाता रहस्यमय कवच है जो हमें चेतना के आरम्भ से अन्त तक घेरे हुए है। उपन्यास का क्षेत्र यही रहस्यमय चेतना है, जिसमें लेखक किंचित् बाह्य तत्वों को समाविष्ट कर लेता है।

वर्जिनिया वुल्फ ने अतश्चेतना और वैयक्तिकता के आधार पर जीवन को नकारने का प्रयत्न किया है और व्यक्ति की चेतना को ही प्रधानता दी है। वैयक्तिकता का भाव स्मृति पर निर्भर करता है और स्मृति समय पर निर्भर करती है। उच्च चेतना के क्षण विगत क्षणों से आते हैं। इस प्रकार पौर्वापर्य सम्बन्ध बाह्य न सही, किन्तु आंतरिक बना रहता है और अनन्तता का तीव्र बोध होता है। इस प्रकार उपन्यास की कथा-वस्तु अंतश्चेतना के प्रवाह की कालिक मर्यादा को बाँधने का यत्न करती है, जिसमें अन्विति का अभाव तो होता है, किन्तु कार्य-व्यापार का अभाव नहीं होता। यह बाह्य न होकर आंतर होता है और आंतर होने के कारण उसका सारा रूप सूक्ष्म और तरलमय होता है। तात्विक कथानक नहीं होता, उसकी अत्यन्त परिक्षीण रेखा विद्यमान रहती है, जिससे पाठक पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर चेतना के व्यापार को ग्रहण कर पाता है। यह ग्रहण सायास होता है, किन्तु होता अवश्य है।

कल्पना का तत्व अतश्चेतना के प्रवाह में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न

हो कि उससे कथानक निकलता हुआ प्रतीत हो। जो घटना प्रधान उपन्यास होते हैं, उनमें कथानक ही प्रधान होता है और चरित्र गौण तथा चरित्र प्रधान उपन्यास होते हैं, उनमें चरित्र प्रधान होता है और कथानक गौण; किन्तु कथानक गौण भले ही हो उसका महत्व अक्षुण्ण बना रहता है; क्योंकि चरित्र का विकास कथानक के रूप को सुरक्षित रखता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे पात्रों की मनोभूमि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। लेखक मनोविश्लेषण के आधार पर अपने पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकाशित करता है। ऐसे उपन्यासों मे कथा-तत्व अत्यन्त क्षीण होता है, किन्तु आंतरिक कार्य-व्यापार की प्रधानता के कारण उसका अत्यन्त ह्रास नही हो पाता और मेरुदंड के समान वह समस्त औपन्यासिक ढांचे को संभाले रहता है, क्योंकि उसके सर्वथा अभाव से औपन्यासिक ढांचा ही धराशायी हो जाएगा।

कथानक की रूप-रचना भी विचारणीय है। अरस्तू ने कार्य-व्यापार की एकता और पूर्णता पर बल दिया है। कार्य-व्यापार ऐसा होना चाहिए जो स्वतः पूर्ण हो और उसमे अन्विति हो। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि कार्य-व्यापार एक ही हो। कई कार्य-व्यापार हो सकते हैं, पर मुख्य कार्य-व्यापार के सहायक रूप मे ही वे आ सकते हैं। आधिकारिक कथानक महानद के समान होता है जिसे पूर्ण बनाने में प्रासंगिक कथानक सहायक नदियों के समान सहयोगी होते हैं और प्रमुख कार्य-व्यापार को और अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। उपन्यासों का कार्य-व्यापार आंतरिक होता है, इस कारण जटिल कार्य-व्यापार उसकी अन्विति में बाधक नहीं हो सकता। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों मे कुछ ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें कार्य-व्यापार को अन्विति नहीं है। इस अभाव के कारण उन उपन्यासों की प्रभावान्विति बाधित अवश्य हुई है। उनमे व्यतिक्रम मे जीवन को देखने का प्रयत्न किया गया है। तथापि कथा-वस्तु की क्षीण रेखा किसी न किसी रूप मे दृष्टिगत होती है। उसकी गति लहरदार है और वह घड़ी के पेंडुलम के समान कभी आगे तो कभी पीछे मुड़ती, रुकती, लहराती, बल खाती सरकती रहती है। थोड़ी ही दूरी में उसका चक्र पूरा हो जाता है। अन्विति की उपेक्षा होते हुए भी गति का त्याग नहीं है, क्योंकि गति के बिना मृत्यु का आह्वान है और गति कथानक को ओर ले जाती है भले ही क्रम है, किन्तु वास्तविक तो है ही। सामान्य रूप में कार्य-व्यापार की अन्विति औपन्यासिक रचना-विधान का स्पृहणीय तत्त्व है।

कुछ ऐसे विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि उपन्यास के कथानक का विन्यास सुव्यवस्थित और सघटित होना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार जीवन का कोई सुव्यवस्थित स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार उपन्यास का भी कोई व्यवस्थित स्वरूप नहीं

चरित्र-चित्रण

उपन्यास के तत्वों मे चरित्र-चित्रण का सर्वाधिक महत्व है। यदि कथानक उपन्यास का मेरुदंड है तो चरित्र-चित्रण उसका प्राण है। सामान्यतः उपन्यास मानव-जीवन का चित्र है। उसमे लेखक जो कुछ प्रस्तुत करता है, वह किसी न किसी रूप में मानव-जीवन से सम्बद्ध होता है। चाहे घटना की प्रधानता हो, चाहे वातावरण की प्रधानता, पर उनका सम्बन्ध किसी ऐसे तत्व से होता है जो उनमें विद्यमान रहता है। उसे पात्र कहते हैं। ये पात्र कौन हो सकते हैं, यह विषय विवाद का हो सकता है। कोई प्राणी हो सकता है, कोई जड़ पदार्थ भी हो सकता है, किन्तु उनके माध्यम से लेखक अपनी जीवनानुभूति को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। विभिन्न परिस्थितियों में वह अपने पात्रों को रखकर उनके चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि जीवन का कोई स्थिर ढाँचा नहीं है, वह गत्यात्मक और परिवर्तनशील है। उपन्यास के पात्र यथार्थ जगत् के पात्र नहीं होते। वे तो लेखक की कल्पना की सृष्टि हैं। वे वस्तुतः जीवन और जगत् के प्रति लेखक के दृष्टिकोण के परिचायक होते हैं। लेखक अपने पाठकों के सामने अपने कल्पना-व्यापार का चमत्कार प्रदर्शित करते हुए जीवन के विविध आयामों को प्रस्तुत कर देता है, जिनका सर्वोत्तम पक्ष पात्रों के चारित्रिक स्वरूपों में प्राप्त होता है। पात्रों का निर्माण नहीं होता, वरन् उनकी खोज होती है। यदि उपन्यासकार के पास अन्तर्दृष्टि है तो स्वयं अपने आप को उनके सामने प्रकाशित करते हैं। यह अन्तर्दर्शन उस समय होता है, जबकि लेखक रचना-वृत्ति में तल्लीन होता है। अन्तर्दर्शन के बल पर वह जब किसी पात्र-विशेष की क्रियाओं को प्रस्तुत करता है, उस समय क्रियाओं का ऐसा रूप रहता है कि यह सहज अनुमेय नहीं होता कि क्रिया का विकास किस रूप में होगा, किन्तु क्रिया का विकास जब अनिर्दिष्ट हो जाता है तो वह सर्वदा अपरिहार्य प्रतीत होता है। क्रिया के आरम्भ में अननुमेयता अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है और चरम सीमा की स्थिति के पश्चात् अपरिहार्यता अधिक प्रभावशाली होती है। उपन्यास में पात्रों का स्पष्ट शारीरिक यथार्थ होना चाहिए।

करता है और संवेग की स्थिति असंदिग्ध है ही। कल्पना और संवेग के आंतरिक तर्क से यह नहीं सिद्ध होता कि उपन्यासकार कहानी अथवा कथानक के बिना काम चला सकता है; क्योंकि इन्हीं के सहारे उसकी कृति के ढाँचे का निर्माण होता है। अतः हम कह सकते हैं कि लेखक कथानक से मुक्त होने के लिए कितना ही क्यों न छटपटाए, किन्तु यदि वह उपन्यास को कला-कृति के रूप में प्रस्तुत करना चाहेगा और पाठक की संवेदना को प्रभावित करना आवश्यक समझेगा तो उसे किसी न किसी रूप में कथा-तंतु का सहारा लेना पड़ेगा।

इस उद्देश्य तक है उसकी मान्यता कि वह चाहे जिस प्रकार के पात्र प्रस्तुत करे, किन्तु उद्देश्य इतना ध्यान अवश्य रखे, जिससे ऐसा न प्रतीत हो कि कोई पात्र-विशेष देवता और अन्य के समान से भिन्न है। दुर्बल से दुर्बल पात्र में कुछ सबलताएँ मिल जाती हैं और सबल से सबल पात्र में कुछ दुर्बलताएँ। उपन्यासकार प्रेमचन्द ने इसी बात को ध्यान में रख कर कहा है—"चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। वह खेल, मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद कहीं इससे ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है, कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र 'पॉज़िटिव' हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसें, बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।"

(कुछ विचार, पृष्ठ ७६-७७)

प्रेमचन्द ने आदर्श पात्रों की ओर संकेत किया है। यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसे पात्र भी हो सकते हैं जो आदर्श से सर्वथा विपरीत हों, फिर भी उनके क्रियाकलाप और व्यवहार से जीवन के असत् पक्ष का ऐसा मार्मिक चित्रण हो सकता है जो पाठक को असत् से बचने और सत् को अपनाने की प्रेरणा दे सकता है। संसार में कोई दो व्यक्ति एक समान नहीं हो सकते। आचार-विचार, व्यवहार, रुचि-संस्कार सब के प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः उपन्यासकार इस वैभिन्य को अपनी रचना में सफलता पूर्वक योजित कर सकता है और जीवन का ऐसा चित्र प्रस्तुत कर सकता है जो सजीव और प्रामाणिक प्रतीत हो। आदर्श अथवा यथार्थ के निर्माण की धुन में उसे सजीवता को बलि-वेदी पर नहीं चढ़ाना चाहिए। पात्रों का विकास उनके परिवेश और वातावरण में ही दिखाना चाहिए, उनसे विच्छिन्न करके नहीं, अन्यथा उनकी स्वाभाविकता समाप्त हो जाएगी। परिस्थिति-विशेष में पात्रों के चारित्रिक विकास

उपन्यासकार में शारीरिक संवेदनशीलता का जितना विस्तार होता है, वह उसी मात्रा में शारीरिक यथार्थ को अभिव्यक्ति दे पाता है। शारीरिक व्यक्तित्व का सम्बन्ध क्रिया से होता है, उसे क्रिया से पृथक् नहीं किया जा सकता। सारा चित्र गति में ही होना चाहिए। आँख, हाथ, क़द आदि को क्रिया-लीनता की स्थिति मे ही दिखाना चाहिए। शारीरिक व्यक्तित्व के प्रतिक्रिया क्रिया का ही अंश है। प्रेम या यौन भाव इसी सामान्य नियम के लक्षित रूप हैं। उपन्यासकार को इन समस्त स्थितियों को अपनी रचना-प्रक्रिया के अवसर पर ध्यान मे रखना चाहिए। स्थिर या चतुरस्र (Flat) पात्र प्रभावशाली नहीं सिद्ध होते। उपन्यास की प्रभावशालिता को दृष्टि में रखकर उपन्यासकार को अपनी रचना मे किसी चुम्बकीय पात्र की अवतारणा करनी चाहिए। ऐसा पात्र समस्त उपन्यास में छाया रहता है और प्रभावान्विति को तीव्र-गंभीर बनाता है।

पात्र सामान्यतः मनुष्य ही होते हैं। उपन्यासकार स्वयं भी मनुष्य ही होता है इस कारण उसमें और उसके पात्रों में अद्भुत साम्य होता है। कला की अन्य विधाओं मे इस प्रकार के साम्य का अभाव रहता है। इतिहासकार भी अपनी रचना से सम्बद्ध रहता है, किन्तु उतनी घनिष्ठता से नहीं, जितनी घनिष्ठता से उपन्यासकार रहता है। चित्रकार और शिल्पी का सम्बद्ध होना आवश्यक नहीं है। उपन्यासकार केवल प्रमाणों को आधारभूत तत्त्व मानकर नहीं चलता, वरन् वह अपने पात्रों के जीवन के प्रच्छन्न तत्त्वों को भी प्रकाशित करता है। उपन्यासकार जिस कहानी को अपनाता है, वह उतनी काल्पनिक नहीं होती, जितनी काल्पनिक वह प्रणाली होती है, जिससे वह अपने विचार को क्रियात्मक रूप प्रदान करता है। वह अपने पात्र के बाह्य एवं आंतर दोनों पक्षों को अत्यन्त विशदता से व्यंजित करता है। उपन्यास वस्तुतः कलाकृति है, जिसके अपने सिद्धान्त और नियम होते हैं। ये सिद्धान्त और नियम हमारे दैनन्दिन जीवन के सिद्धान्त और नियम के समान नहीं होते। उपन्यास का कोई पात्र तभी यथार्थ जगत का पात्र प्रतीत हो सकता है, जबकि वह उन नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार जीता है। उपन्यास का कोई पात्र तभी वास्तविक प्रतीत होगा, जबकि उपन्यासकार उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानता होगा; यह दूसरी बात है कि वह उसके सम्बन्ध में सब कुछ बताना न चाहे। किन्तु वह हममें यह भावना उत्पन्न कर सकता है कि भले ही पात्र पूर्णतया व्याख्यायित न हो, पर वह व्याख्येय अवश्य है।

उपन्यासकार अपनी रचना में पात्रों की खोज करता है, वह उनका निर्माण नहीं करता। इस खोज में भी उसकी दृष्टि की ही प्रधानता रहती है। जीवन और जगत् के प्रति उसका जैसा दृष्टिकोण होता है और जीवन और जगत् की उसको जैसी अनुभूति होती है, उसके पात्र उसी के आधार पर बन पाते हैं। उपन्यासकार को यह

है, किन्तु वह उसे अपने युग की आँखों से ही देखता है, अर्थात् उसकी युग-दृष्टि इतनी प्रभावशाली होती है कि वह अपनी रचना को उससे असंपृक्त नहीं रख सकता; किन्तु उसे अपनी विषय-वस्तु और पात्रों को देश-काल की सीमा के अनुकूल रखते हुए भी सार्वजनीन और सार्वकालिक बनाने का प्रयास करना चाहिए। महान् कलाकार इस दिशा में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

पात्र या पात्रों के साथ तादात्म्य-स्थिति भी चरित्र-अन्वेषण की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति है। पाठक उसी या उन्हीं पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है जो उसकी रागात्मक और बौद्धिक वृत्ति को प्रभावित कर सकें। जीवन से सीधे लिए गए सजीव पात्र ही अपनी समस्त क्रिया-प्रतिक्रिया की स्थिति में पाठक को अजनबी से नहीं प्रतीत हो सकते। उन्हें वह बहुत कुछ अपने से अभिन्न समझ सकता है। ऐसे पात्र पाठक पर अत्यधिक प्रभाव छोड़ जाते हैं। आधुनिक युग में आलोचक तादात्म्य-भाव को अधिक महत्त्व नहीं प्रदान करते। उनका मंतव्य है कि पाठक मानसिक दूरी बनाए रखकर तटस्थ भाव से ही कला-कृति का आस्वादन कर सकता है और तादात्म्य की स्थिति में वह रचनाकार या पात्र की पकड़ में आ जाता है तथा अपनी भाव-भूमि की समता पाकर अभिभूत हो उठता है। इस कारण उचित रूप में वह आस्वादन नहीं कर पाता। किन्तु कलास्वादन की स्थिति में तादात्म्य की तुलना में निर्वैयक्तिकता अधिक अनुकूल सिद्ध होती है और यह तादात्म्य की स्थिति में रहती है। साथ ही तादात्म्य-स्थिति का आवश्यक गुण मानसिक दूरी भी है। अतः तादात्म्य-स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। यदि उपन्यासकार मानव-भाव-कोश की सूक्ष्मतम विच्छित्तियों को ध्यान में रखकर आधुनिक मानव को प्रस्तुत करेगा, जिसमें भावुकता की तुलना में बौद्धिकता स्वभावतः अधिक होगी और जिसकी संवेदना बुद्धि-तत्त्व से अनुशासित होगी, उसके साथ पाठक की तादात्म्य-स्थिति अनिवार्य रूप में होगी और यदि पात्र भविष्य की सम्भावना के रूप में चित्रित होगा, तो भी पूर्णतः तादात्म्य न होने पर भी तादात्म्य का संस्पर्श तो अवश्य ही होगा। यह बात निश्चित-सी है कि समस्त पात्रों के साथ तादात्म्य सम्भव नहीं है। केन्द्रीय पात्र के साथ ही तादात्म्य होता है और वह लेखक की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आधुनिक युग में उपन्यास पात्रों या चरित्रों का चित्रण नहीं करता। आधुनिक उपन्यास मानव-जीवन को छोड़कर सब कुछ चित्रित करता है। कुछ उपन्यास इस प्रकार के मिल भी जाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि उपन्यास पात्रों या चरित्रों का चित्रण नहीं करता तो उसे उपन्यास कैसे कह सकते हैं। या तो उपन्यास की परिभाषा परिवर्तित करनी होगी या उसका अत्यधिक विस्तार

आकस्मिक नहीं होने चाहिए। जो कुछ परिवर्तन दिखाए जाएँ, उनका पूर्वक्रियाओं से सम्बन्ध होना आवश्यक होता है। यह बात निश्चित है कि मानव का मानसिक व्यापार अत्यन्त जटिल और रहस्यमय होता है। कब, किन परिस्थितियों में कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु उपन्यासकार को अपने पात्रों के बारे में सब कुछ जानना चाहिए, उनके प्राणों के हर एक स्पन्दन से परिचित होना चाहिए। तभी वह औचित्य का निर्वाह कर सकता है और उसके पात्र सजीव तथा यथार्थ जगत् के प्रतीत हो सकते हैं।

सारा काव्य-व्यापार कवि या लेखक का ही व्यापार है। वह अपनी इच्छानुसार अपनी विषय-वस्तु और पात्रों का सृजन करता है। सचमुच जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण का व्यवस्थापन ही उसकी रचना है, किन्तु वह उसे इस रूप में व्यवस्थित करता है, जिससे वह यथार्थ जगत् का ही प्रतीत हो। इसीलिए वह पात्रों का सहारा लेता है। उसमें व्यवस्थापन की जितनी शक्ति होती है, उसके पात्र उतने ही यथार्थ जगत् के प्रतीत होते हैं। उसकी व्यवस्थापन की कला बहुत कुछ उसके जीवनानुभव पर निर्भर करती है। पात्रों का जीवन के अनुरूप होना तो वांछनीय होता ही है, किन्तु उनके चरित्र में एकरूपता भी होनी चाहिए। चरित्र का विकास अननुमेय तो होना चाहिए, किन्तु जिस दिशा में उसका विकास हो, वह अपरिहार्य प्रतीत हो। इसी कारण किसी भी पात्र के चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन तब अग्राह्य और क्षोभकारी प्रतीत होता है, जबकि उसके लिए पहले से ही यथेष्ट भूमि निर्मित नहीं कर ली जाती और पात्र के विकास की अवस्था में ही बीज-रूप में ऐसी स्थिति की संभावना निहित न हो। एकरूपता से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि पात्र आरम्भ में जैसा हो, वैसा ही अंत में भी हो, वरन् हमारा तात्पर्य यही है कि उसमें जो कुछ भी परिवर्तन हों, वे विभिन्न परिस्थितियों में हों और इस रूप में हों कि पाठकों को वे सर्वथा समीचीन और अपरिहार्य प्रतीत हों।

लेखक जिस प्रकार असंभाव्य घटना को इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि वह संभाव्य प्रतीत हो, उसी प्रकार वह असंभाव्य चरित्र को भी प्रस्तुत कर सकता है, जिस पर भले ही पाठक पूर्णतः विश्वास न कर सके, किन्तु सम्भावना के रूप में ग्रहण कर ले। इस प्रकार के चरित्र उच्च कोटि का प्रतिभा सम्पन्न कलाकार ही प्रस्तुत कर सकता है। सामान्यतः ऐसे पात्र उस युग विशेष में पाठकों का उतना अधिक ध्यान आकृष्ट नहीं कर पाते, जितना कि सामान्य स्तर के समाज के उपरले स्तर के चरित्र; किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनका मूल्यांकन अवश्य ही होता है।

उपन्यासकार अपने समसामयिक जीवन से प्रभावित ही नहीं रहता, अपितु स्वयं भी वही जीवन जीता है। वह अपनी कथा-वस्तु कहीं से भी ग्रहण कर सकता

उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें चरित्र-चित्रण के लिए अधिक अवकाश रहता है। नाटक की ऐसी स्थिति नहीं होती। नाटक में प्रत्यक्ष रूप से ही चरित्र-चित्रण का अवसर रहता है, जबकि उपन्यास में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों रूप से चित्रण किया जा सकता है। कार्य-व्यापार की प्रमुखता और प्रत्यक्ष-दर्शन के कारण नाटक के पात्र अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं और इस प्रकार की प्रभावशालिता की निर्मिति के लिए उपन्यासकार को और अधिक व्यापक भूमि अपनानी पड़ती है। जहाँ नाटक में कार्य-व्यापार की प्रधानता होती है, वहाँ उपन्यास में चरित्र के आंतरिक कार्य-व्यापार की प्रधानता होती है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक प्रकार के उपन्यास में किसी न किसी रूप में चरित्र की अवस्थिति होती है, किन्तु वही उपन्यास साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है, जिसमें चरित्र की प्रधानता होती है। उपन्यासकार अपने पात्रों की मानसिक भूमियों का उद्घाटन कर पाठक के सामने ऐसी नई और विस्मयकारी वस्तुओं को प्रस्तुत कर सकता है, जिन्हें देखकर वह विमुग्ध हो सकता है। वह अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धति को अपना कर नवीन सौन्दर्य-सृष्टि कर सकता है, जबकि नाटककार के लिए इतनी अधिक सुविधा नहीं होती। विश्लेषणात्मक पद्धति उपन्यासकार के लिए विशेष वरदान है, किन्तु उसके दुरुपयोग की भी संभावनाएँ अधिक हैं। यदि उपन्यासकार परिस्थिति और वातावरण को ध्यान में रखे बिना ही इस पद्धति का उपयोग करता है तो उसकी सारी निर्मिति अस्वाभाविक और कृत्रिम हो जाएगी। साथ ही विश्लेषण का सहारा लेते हुए उसे यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि विश्लेषण की जिस पद्धति को वह अपना रहा है, वह स्थिति-विशेष में उपयुक्त है या नहीं। विश्लेषण की धुन में जब लेखक लम्बे-लम्बे संवाद, व्याख्यान, पत्र आदि को अपनी रचना-प्रणाली में उनकी स्वाभाविकता पर विचार किए बिना योजित करने लगता है तो उसकी सारी योजना नीरस हो जाती है और इस प्रकार उसका उद्देश्य क्षतिग्रस्त हो जाता है। मनोविज्ञान ने लेखक को बहुत ही व्यापक और महत्वपूर्ण भूमि प्रदान की है। यदि वह सावधानी से उसका उपयोग कर सके तो पात्रों के चरित्र के अनेक आयाम सुन्दर रीति से उद्घाटित हो सकते हैं और जीवन को नये सिरे से समझने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है। इसके लिए

कार की तुलना में उपन्यासकार अधिक अच्छी स्थिति में रहता है। उसे व्याख्या और टीका-टिप्पणी करने की पूरी स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को पूरी सूक्ष्मता से उद्घाटित कर सकता है। नाटककार को इस प्रकार की सुविधा नहीं प्राप्त होती। विश्लेषण एक ऐसा साधन है, जिसके आधार पर उपन्यासकार गतिशील पात्रों का निर्माण कर सकता है और यथावसर पात्रों के मनोद्वन्द्वों, भावों, आवेगों आदि पर प्रकाश डालकर अपने चित्रण को गम्भीर और व्यापक बना सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान चरित्र-चित्रण में अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। मानव-मन की बहुत सारी गुत्थियाँ सामने आई हैं। अब यह अनुभव होने लगा है कि मनुष्य का जो रूप प्रकट है, उससे उसका अप्रकट रूप अधिक बड़ा और गहन है। मानव के चेतन से उसका अचेतन अधिक महत्त्वपूर्ण है जो उसके कार्य-व्यापार को सर्वदा प्रभावित करता रहता है। उपन्यासकार विभिन्न प्रणालियों से अपने पात्रों के चेतना-अचेतन मस्तिष्क के बहुत सारे पक्षों को विश्लेषित कर उनके चरित्र के सूक्ष्मतम तत्त्वों को उद्घाटित कर देता है। विश्लेषण-पद्धति में लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जिस किसी तत्त्व को प्रकाशित करे, उसे वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल स्थिति में करे, विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण उसी आधार पर स्वाभाविक हो सकेगा।

नाटकीय अथवा अभिनयात्मक विधि—इस प्रकार का चरित्र-चित्रण अधिक स्वाभाविक और कलात्मक होता है। लेखक अपनी ओर से मौन रहता है। पात्र ही आगे बढ़कर विविध परिस्थितियों और घटना-चक्रों में अपने वैशिष्ट्य-दौर्बल्य को प्रकट कर देते हैं। उनके पारस्परिक कथनोपकथन से भी उनके मनोभाव, राग-द्वेष, रुचि अरुचि आदि व्यक्त हो जाते हैं।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण—परिस्थितियों और घटना-चक्रों में पड़कर पा अपनी जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, वह उसके चारित्रिक घटक की परिचायिक होती है। घटना से व्यक्ति का चरित्र ही उद्घाटित नहीं होता, वरन् उसका चरि परिष्कृत भी होता है। घटनाएँ उपन्यास के कार्य-व्यापार को ही गति नहीं देतीं, पात्रों के चरित्र-विकास और उसके विविध पक्षों के उद्घाटन में भी होती हैं।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—कथोपकथन की योजना एक तो विकता लाने के लिए होती है और दूसरे पात्रों के चरित्र-उद्घाटन के लिए। से लेखक जो कुछ नहीं कह पाता, उसे पात्र अपने स्वाभाविक संवाद मे संवाद की स्थिति मे उन्मुक्तता रहती है। इस कारण पात्र बहुत सारी ऐसी जाते हैं जो अन्य स्थिति मे सम्भव नहीं और उन बातों से उनकी चारित्रिक

आवश्यक है कि लेखक अपनी आँखें खुली रखे और जीवन से ही ऐसे पात्रों को ग्रहण करे जो हमारे समान ही हाड-माँस के पुतले हैं, जिनके अपने सुख-दुःख हैं, अपनी रुचि-अरुचि है और अपनी भावनाएँ हैं।

अनुकूलता—परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल ही पात्रों का विकास होना चाहिए। परिस्थिति की बाध्यता कुछ दूसरी हो और पात्र किसी दूसरी दिशा में प्रवृत्त हों, इसका उपन्यास की रचना पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार चरित्र का विकास कथानक के विकास में सहायक होना चाहिए। उसके कारण कथानक के प्रवाह में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं आना चाहिए। परिस्थिति, देश-काल और कथानक के अनुकूल पात्रों की स्थिति स्पृहणीय होती है।

सजीवता—स्वाभाविकता में ही हम कह आए हैं कि पात्रों का सम्बन्ध हमारे जीवन से होना चाहिए। वे हमारे जाने-पहचाने होने चाहिए और उनमें मानवीय भावना का ऐसा संस्पर्श होना चाहिए कि वे पाठक को अजनबी जैसे प्रतीत न हों। यदि पात्र उपन्यास में मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किए जाते हैं और मानवीय भाव-संस्पर्श से सम्पन्न रहते हैं तो वे निश्चय ही सजीवता सम्पन्न रहेंगे तथा पाठकों पर उनका विश्वासात्मक प्रभाव पड़ेगा।

पात्रों के चित्रण में उपन्यासकार को सहृदयता रखनी चाहिए। अपने किसी सिद्धांत-विशेष की प्रतिष्ठा के लिए उसे अपने पात्रों का गला नहीं घोंटना चाहिए। पात्र के किसी प्रकार के विकास या परिवर्तन को दिखाने के लिए उसे यथेष्ट कारण उपस्थित करने चाहिए। चरित्र-चित्रण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है। लेखक को अपनी प्रतिभा के उन्मुक्त प्रयोग के लिए यह क्षेत्र अत्यन्त उर्वर है। वह किसी भी रूप में मानवीय संवेदना को केन्द्र में रख कर अपने पात्रों का निर्माण कर सकता है।

○

विश्लेषणात्मक पद्धति ही अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ—उपन्यासकार अपने पात्रों की सृष्टि और उपयोग में स्वतन्त्र होता है। उसके पास सदा इस प्रकार के होते हैं कि वे सहज रूप में उनको कथानक के अनुरूप बदल सकें। सर्वदा पात्रों की रचना को सुन्दर और पूर्ण बनाने के लिए लेखक को कुछ मुख्य विशेषताओं को ध्यान रखना पड़ता है। मौलिकता, स्वाभाविकता, अनुकूलता, सजीवता, आदि ये। गुण हैं जो चरित्र-चित्रण को अधिक स्वाभाविक और प्रभावशाली बना सकते हैं।

मौलिकता—उपन्यास-रचना में मौलिकता का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। कथानक की मौलिकता इससे महत्त्वपूर्ण होती है, जिसमें लेखक का दृष्टिकोण विशेष रूप से अपना महत्त्व रखता है। एक ही कथानक दो या तीन या अधिक लेखकों के हाथ में पड़कर भिन्न रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार पात्रों की सृष्टि भी होती है। जो लेखक जितना अधिक प्रतिभा सम्पन्न होगा और जिसका निरीक्षण-कौशल जितना परिपक्व होगा, उसके पात्र उतने ही मौलिक होंगे। पात्र का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होना चाहिए और वह व्यक्तित्व इतना स्पष्ट और प्रभावशाली होना चाहिए कि पाठक चाहे तो कल्पना की आँखों से उसे प्रत्यक्ष देख ले। जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति रूप-आकार, रुचि-व्यवहार आदि में एक समान नहीं होते, उसी प्रकार दो पात्र भी एक समान नहीं होने चाहिए। एक बात अवश्य है कि मौलिकता की धुन में लेखक को ऐसे पात्रों का सृजन नहीं करना चाहिए जो इस संसार के ही प्रतीत न हों। वह ऐसे पात्रों का निर्माण कर सकता है जो भूत या वर्तमान के प्राणी न हों, किन्तु भविष्य में जिनकी संभावना हो। परन्तु मानवीय भाव का संस्पर्श अपेक्षित रूप में होना चाहिए, अन्यथा कठपुतलियों के समान ये पात्र क्रीड़ा-कौतुक ही सिद्ध होंगे।

स्वाभाविकता—पात्र स्वाभाविक तभी प्रतीत हो सकते हैं, जब कि वे हमारे बीच के ही प्रतीत हों। उन्हें अतिमानवीय प्रवृत्तियों से युक्त दिखाना उचित नहीं होता। बहुत से लेखक आदर्श के निर्माण की धुन में अपने पात्रों में अत्यधिक गुण आरोपित करने लगते हैं। इस कारण वे पात्र कुछ अविश्वसनीय और कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। पात्र ऐसे होने चाहिए कि पाठक उनकी उँगलियाँ पकड़ कर जगत् का भ्रमण कर सके, जीवन-जगत् के बहुत सारे रहस्यों को उनके माध्यम से जान सके और उन्हें अपना मित्र समझ सके। इसी प्रकार किसी पात्र की चारित्रिक दुर्बलता दिखाने के लिए उसमें सभी प्रकार के दुर्गुणों को दिखाना भी प्रभाव की दृष्टि से उचित नहीं होता। दुर्गुणों के साथ कुछ गुणों की भी स्थिति हो सकती है, जिनसे वह मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित हो सकता है और मानवीय भावों के संस्पर्श के बिना वह मानव नहीं बन सकता और उसका चारित्रिक विकास स्वाभाविक नहीं प्रतीत हो सकता। स्वाभाविकता के लिए यह

कथोपकथन की एक उपादेयता यह भी है कि उससे लेखक का उद्देश्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लेखक जीवन और जगत् का चित्र प्रस्तुत करता है, किन्तु उसकी दृष्टि कितनी ही वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, उसकी निजी, वैयक्तिक दृष्टि का सर्वथा अभाव नहीं होगा। मूलतः जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, जिसके आधार पर वह अपनी रचना का स्थापन करता है। यदि वह सर्वज्ञता की शैली को अपना कर अपनी रचना लिखता है तो बीच-बीच में वह अपनी टिप्पणी देता जाता है और अपने जीवन-दर्शन को आरोपित करता चलता है, किन्तु जब वह दूसरी शैली अपना कर चलता है तो उसे अपनी जीवन-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप में आरोपित करने का अवसर कम मिलता है। इस कारण वह पात्रों के माध्यम से अपनी विचार-भूमि को प्रस्तुत करता है। कोई न कोई पात्र लेखक के विचारों का वाहक होता है। पात्रों की पारस्परिक वार्ता से उसका दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार लेखक कलात्मकता को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना अपना उद्देश्य पूरा कर लेता है। किन्तु कथोपकथन का अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से उपयोग करते समय उसे अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। स्वाभाविकता को बनाए रहते हुए ही वह पात्रों के माध्यम से अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकता है। यदि उसने किंचित् उतावलापन और किंचित् असावधानी दिखाई तो वह जिस उद्देश्य से परिचालित होकर अपने पथ का निर्माण करता है, उसका वह उद्देश्य ही धराशायी हो जाएगा। पात्रों की परिस्थिति, मनः-स्थिति और सामर्थ्य को समझते हुए उसे कथोपकथन की योजना करनी चाहिए।

की गई वस्तु कितनी महनीय और उदात्त क्यों न हो, पाठकों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ेगा और एक प्रकार की नीरसता आ जाएगी जो रचना के प्रभाव को व्याहत कर देती है। उपन्यास के स्वाभाविक विकास में कथोपकथन के कारण किसी प्रकार का व्याघात रोचकता को न्यून कर देता है।

उपयुक्तता—कथोपकथन पात्र, परिस्थिति और घटना के उपयुक्त होना चाहिए, तभी वह सरस और प्रभावोत्पादक हो सकता है। अनुपयुक्त संवाद अशक्त होता है और रचना को प्रभावहीन बना देता है।

अनुकूलता—कथोपकथन पात्र, परिस्थिति और घटना के अनुकूल होने चाहिए। साधारणतः भाषा के प्रयोग में भी लेखक को सावधानी रखनी चाहिए। बालक, वृद्ध या युवा की भाषा उसकी वय, शिक्षा, जीवन-स्तर और परिवेश के अनुकूल होनी चाहिए। किसी अज्ञानी से दार्शनिक व्याख्यान दिलाना अथवा किसी अबोध बालक की भाषा में रहस्यमयता भरना सर्वथा अनुचित होता है। साथ ही यह भी विचारणीय होता है कि कब, किस रूप में संवाद नियोजित करना चाहिए। कल्पना कीजिए किसी मृत व्यक्ति के दाह-संस्कार के समय कुछ पात्रों के संवाद का अवसर लेखक निकाल लेता है। उस समय यदि पात्र जीवन की दार्शनिक व्याख्या आरम्भ कर दें और जीवन-मरण के सम्बन्ध में विस्तृत व्याख्यान देने लगें तो उपन्यास की रोचकता बाधित हो उठेगी। ऐसे अवसर पर दुःख और समवेदना का जितना महत्त्व है, उतना जीवन-मरण के दार्शनिक विवेचन का नहीं।

सम्बद्धता—कथोपकथन का पूर्वापर सम्बन्ध अपेक्षित है। कथोपकथन की आकस्मिक अवतारणा हास्यास्पद होती है। लेखक को कथोपकथन की योजना करने से पूर्व भूमि निर्मित कर लेनी चाहिए, जिससे वह कथानक के प्रवाह में अनुस्यूत रहे और किसी भी रूप में ऐसा प्रतीत न हो कि वह बाहर से आरोपित है। कभी-कभी किसी अनुच्छेद के आरम्भ में ही कथोपकथन की योजना की जाती है। ऐसा संवाद कथानक का अंग-रूप ही होना चाहिए। ऐसा होने पर उसका पूर्वापर सम्बन्ध बना रहेगा।

लाघव (संक्षिप्तता)—कथोपकथन का लाघव कहानी और नाटक में प्रभावान्विति की दृष्टि से अधिक उपादेय होता है। उपन्यास में लाघव अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उपन्यास का क्षेत्र व्यापक होता है और उपन्यासकार को संवाद के माध्यम से पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित करने का अवसर अधिक प्राप्त होता है। उपन्यास का पाठक किंचित् विस्तार को सहन कर सकता है। तथापि संवाद का लाघव स्पृहणीय होता है, वह रचना की रोचकता को बढ़ाता है और उसमें एक प्रकार की सांकेतिकता भी होती है जो रचना की प्रभविष्णुता में सहायक होती है। संक्षिप्त संवादों की

कथोपकथन का प्रयोग वातावरण की सृष्टि के लिए भी किया जाता है। सामान्य स्थिति में ऐसा नहीं होता। ऐसे उपन्यासों में इसका इस रूप में प्रयोग किया जाता है, जिनमें वातावरण की प्रधानता होती है।

और अनेक रूपों में उपन्यास की प्रभावमयता की संवृद्धि के लिए लेखक कथोपकथन का उपयोग कर सकता है। घटना को आकस्मिक मोड़ देना हो, पात्रों के चरित्र के किसी विशेष कोण को उद्घाटित करना हो अथवा किसी प्रकार की नाटकीयता को उभारना हो तो लेखक कथोपकथन का उपयोग कर सकता है। कथोपकथन का, किस रूप में आवश्यक है, यह लेखक के निर्णय और विचार शक्ति पर निर्भर करता है और उसकी निर्णय-शक्ति जितनी परिपक्व होगी, उसकी विचार-शक्ति जितनी दृढ़ होगी तथा उसकी परिस्थितियों की पकड़ जितनी मजबूत होगी, उसका कथोपकथन उतना ही प्रभावशाली, उतना ही सजीव और उतना ही स्वाभाविक बन पड़ेगा।

कथोपकथन के गुण—अभी तक हमने यह देखा कि लेखक किन-किन परिस्थितियों और किन-किन रूपों में कथोपकथन का प्रयोग कर सकता है और ऐसा करके वह किस रूप में अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर लेता है। अब हमें यह देखना है कि कथोपकथन में ऐसे कौन से गुण अपरिहार्य हैं, जिनसे युक्त होने पर ही वे अभिप्रेत उद्देश्य की पूर्ति कर पाते हैं और जिनके अभाव में उनका प्रभाव विपरीत हो जाता है। वे गुण हैं स्वाभाविकता, रोचकता, उपयुक्तता, अनुकूलता, सम्बद्धता, संक्षिप्तता, सोद्देश्यता, नाटकीयता आदि।

स्वाभाविकता—कथोपकथन यद्यपि जीवन से नहीं लिया जाता, तथापि कार्य-व्यापार को वास्तविकता अवश्य प्रदान करता है तथा घटना-क्रम को विकसित करता है। कथोपकथन का प्रयोग करते समय लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ पर जिन पात्रों के मध्य उसका प्रयोग किया जाता है, उनके मध्य उसका प्रयोग उचित है या नहीं। स्वाभाविकता के लिए औचित्य आवश्यक है। औचित्य में स्थान, काल, व्यक्ति और कार्य-व्यापार का औचित्य सन्निहित है। इन सबको ध्यान में रख कर यदि कथोपकथन की योजना होगी, तभी वह स्वाभाविक हो सकेगा। स्वाभाविकता के लिए भाषा के प्रयोग में भी सावधानी आवश्यक होती है। पात्रों की शिक्षा, मानसिक स्थिति, जीवनस्तर और घटना-विशेष को ध्यान में रखते हुए भाषा का प्रयोग करना चाहिए। [illegible] यथार्थ का आभास देने वाली भाषा ही प्रयुक्त हो, जिससे [illegible]।

रोचकता—[illegible] की योजना [illegible] और [illegible] होनी चाहिए। जब लेखक [illegible] में, [illegible] शैली के द्वारा पात्रों को अपने अनुरूप करता है तो भले ही वह [illegible]

जैसा प्रतीत होना चाहिए। उपन्यास के कथोपकथन में स्वतः स्फूर्ति आवश्यक है। यह पात्रों के मध्य की स्थिति को दिखाने का आदर्श साधन है। यह सम्बन्धों को प्रकाशित करता है। इसे इतना प्रभावोत्पादक होना चाहिए कि पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण अथवा व्याख्या अनावश्यक हो जाए। कथोपकथन सर्वाधिक दृश्य और प्रभावमय आतर क्रिया है, जिसे उपन्यास के पात्र कुशलता से पूरा करते हैं। यह पात्रों के मानसिक प्रत्यक्षीकरण का साधन है।

सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वे रचना की प्रभावान्विति को तीव्र बना देते हैं।

सोद्देश्यता—संवाद की योजना संवाद के लिए नहीं होनी चाहिए। उसके पीछे कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए। कथोपकथन का उद्देश्य घटना-क्रम का विकास, पात्रों की चारित्रिक विशेषता का प्रकाशन और वातावरण की सृष्टि है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रख कर लेखक को संवाद नियोजित करने चाहिए। जीवन का चित्र प्रस्तुत करना अथवा जीवन की व्याख्या करना अथवा मानव-अनुभूति का प्रकाशन कला का धर्म है। उपन्यास का भी यही धर्म है। अतः संवाद इसमें भी योग देता है क्योंकि उपन्यास की सात्विक अभिव्यक्ति का यह भी एक अंग है ही।

नाटकीयता—नाटकीयता सामान्य रूप में स्वाभाविकता की विरोधी है, किन्तु कलात्मकता के लिए आवश्यक है। कोई भी अपने दैनंदिन जीवन में जैसा व्यवहार करता है, जैसी बातचीत करता है और जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, यदि उन सब को यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर दिया जाए तो रचना की रोचकता नष्ट हो जाएगी। इसी कारण लेखक यथार्थ को कलात्मक बाना पहनाकर प्रस्तुत करता है और संवाद को क्षिप्र, सांकेतिक तथा प्रभावशाली बना देता है। इस प्रकार की क्षिप्रता, सांकेतिकता और प्रभावशालिता नाटकीय होती है, किन्तु इसके साथ स्वाभाविकता और यथार्थ का भाव भी विद्यमान रहता है। यथार्थवादी और अतियथार्थवादी इस प्रकार की नाटकीयता को न अपनाकर मूल, यथार्थरूप की प्रस्तुति को अधिक महत्त्व देते हैं। परिणाम यह होता है कि संवाद नग्न और भोंडे रूप में सामने आते हैं, उनका प्रभाव क्षोभकारी होता है। अश्लील और भद्दे शब्द प्रयोग यद्यपि साधारण रूप में बोलचाल की भाषा में होते रहते हैं। ऐसे प्रयोग के पीछे व्यक्ति-विशेष के संस्कार और उसका परिवेश होता है। यह यथार्थ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यथार्थ की रूप-प्रस्तुति में भाषा-संस्कार-च्युति कथमपि शोभनीय नहीं है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पात्रों के चरित्र-चित्रण और बहुत-सी परिस्थितियों के सुन्दर चित्रण में कथोपकथन का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। कथोपकथन से उपन्यास में नाटक के अनुशासन और वस्तुनिष्ठता के तत्त्व प्रभावशाली ढंग से आ जाते हैं। कथोपकथन में लेखक को अपने कौशल का पूरा-पूरा परिचय देना पड़ता है और बहुत अधिक धैर्य रखना पड़ता है, तभी उसकी रचना में स्पष्टता और स्वाभाविकता आ पाती है। कथोपकथन को किसी विचार की अभिव्यक्ति का वाहन विचार ही के लिए नहीं होना चाहिए। विचार वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे उन पात्रों पर प्रकाश डालते हैं, जो उन्हें अभिव्यक्त करते हैं। कथोपकथन के लिए उपन्यास के अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक कला आवश्यक होती है, क्योंकि वास्तविक न होते हुए भी उन्हें वास्तविक

सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना, पुरानी परम्पराओं का अतिक्रमण कर सकता है, किन्तु अतिक्रमण के लिए भी उसे अपनी परिस्थितियों से जूझना पड़ता है। इस कारण निषेधात्मक रूप में ही सही, पर परिस्थितियाँ उसके निर्माण में स्थित रहती हैं। उपन्यासकार जब अपने पात्रों को अपनी रचना में जीवन के विविध पक्षों को अनुभूत करने के लिए और क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए योजित करता है तो वह उन्हें देश-काल में सम्बद्ध स्थिति में ही दिखलाता है। ऐसा होने पर ही पात्रों में सजीवता होगी और कथानक प्रवाह अविच्छिन्न बना रहेगा। इसी कारण कथानक के पात्र वास्तविक पात्र के समान देश-काल के बन्धन में रहते हैं। यदि उन्हें देश-काल के बन्धन में न दिखाया जाए तो उनका स्वरूप ही कुछ इतना रहस्यमय होगा कि पाठक कुछ भी समझ न सकेगा। आधुनिक युग में जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनमें वातावरण की प्रधानता रहती है और ऐसा होने के कारण ही ऐसे उपन्यास यथार्थ का सर्वोत्तम आभास प्रस्तुत कर पाते हैं।

आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित हो रही है कि किसी वस्तु का अंकन इस रूप में किया जाए कि एक तो उसका अत्यन्त स्पष्ट चित्र पाठक के मनः-पटल पर अंकित हो जाए और दूसरे उसका विश्वासात्मक प्रभाव पड़े। लेखक जिस वस्तु-विशेष को अपने पाठकों तक सम्प्रेषित करना चाहता है, उसका उचित रीति से सम्प्रेषण हो सके। ऐसा करने के लिए लेखक के लिए देश-काल की सूक्ष्मतम विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। समाज, संस्कृति, धर्म, रीति-परम्परा, वेश-भूषा आदि के सम्बन्ध में उसका निश्चयात्मक ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के सहारे वह अपने कथानक को खड़ा कर सकता है। इसके अतिरिक्त लेखक को भौगोलिक जानकारी भी बहुत अच्छी होनी चाहिए। किसी प्रदेश-विशेष का वर्णन करते समय लताओं, गुल्मों, वृक्षों, फूलों, शस्य आदि के वर्णन देश-काल के अनुकूल हों। ये देखने में सामान्य-से लगते हैं, किन्तु रचना में इनका विशेष महत्त्व होता है। लेखक जिस यथार्थ-निर्मिति के लिए इतना अधिक श्रम करता है, वह सामान्य च्युति से धराशायी हो जाती है

आजकल सामाजिक उपन्यासों में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। लेखक किसी क्षेत्र-विशेष को केन्द्र में रख कर अपने कथानक का निर्माण करता है। उसका उद्देश्य होता है उस क्षेत्र के जन-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करना, जिसे वह बदलते हुए परिवेश में अत्यंत सूक्ष्म रूप में अंकित करने का प्रयास करता है। प्रेमचन्द ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई थी, किन्तु उनके चित्रण में क्षेत्रीय रंग हलके रूप में ही उभरा है, जबकि क्षेत्रीय रंग को प्राधान्य देने वाले ऐसी प्रत्येक सम्भव शिल्प-विधि अपनाते हैं जो क्षेत्रीय रंग को उभारने में अधिक से अधिक सफल हो। ऐसा करने के लिए उन्हें देश-काल और वातावरण को सबसे अधिक महत्त्व देना पड़ता है। वे क्षेत्र-

देश-काल और वातावरण

उपन्यास साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही लेखक के कल्पना-व्यापार के फलस्वरूप ही अपना रूप-आकार प्राप्त करता है। काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य का आभास प्रस्तुत करता है अथवा यह भी कह सकते हैं कि सत्य या यथार्थ की भ्रांति उत्पन्न करता है। सत्य न होते हुए भी सत्य जैसा प्रतीत हो, ऐसा करना रचनाकार के लिए आवश्यक होता है। इस कार्य में उसे जिस सीमा तक सफलता प्राप्त होती है, उसी सीमा तक उसकी रचना भी सफल सिद्ध होती है। इसके लिए वह अपने विविध कलात्मक साधनों का उपयोग करता है, उनमें देश-काल और वातावरण की निर्मिति का भी अपना विशेष महत्त्व होता है।

लेखक जो रचना प्रस्तुत करता है, उसका सम्बन्ध किसी न किसी स्थान-विशेष से होता है। केवल घटना प्रधान उपन्यास ऐसे हो सकते हैं जो देश या स्थान की विशिष्ट बातों के उल्लेख के बिना घटना-क्रम के विकास को दिखा सकें, यथार्थ के स्वरूप की रक्षा के लिए उनके लिए भी यह आवश्यक होता है कि वे स्थानिक विशेषताओं को समेट कर चलें। देश या स्थान में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों और परम्पराओं आदि को ग्रहण किया जाता है, किन्तु ये सारी स्थितियाँ सर्वदा एक समान नहीं होतीं, वरन् निरन्तर परिवर्तनशील रहती हैं। इस कारण देश के साथ काल सम्बद्ध रहता है और दोनों के आधार पर ही राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विशेषताओं का अंकन उपन्यास में होता है। उपन्यासकार का उद्देश्य प्रधानतः प्रभाव-निर्मिति है और प्रभाव-निर्मिति के लिए देश-काल का चित्रण आवश्यक होता है। कोई भी पात्र अपने परिवेश में जीता है। परिवेश से विच्छिन्न परिस्थिति में उसका चरित्रांकन अत्यन्त कठिन होता है। कोई व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो, किन्तु उसे अपने परिवेश से विलग करके नहीं देखा जा सकता। वह वस्तुतः अपने परिवेश से विकसित होता है। जीवन के प्रति उसका जो दृष्टिकोण बनता है, उसके लिए कुछ सीमा तक उसका परिवेश उत्तरदायी होता है। वह अपनी

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन में कल्पना-शक्ति का सबसे अधिक उपयोग करना पड़ता है। लेखक को अपनी कल्पना की आँखों से अतीत के साधारण से साधारण चित्र को प्राचीनता के ही रंग में देखना पड़ता है। जिस किसी वस्तु, दृश्य, घटना, क्रिया-व्यापार, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि की उसे वर्णना करनी होती है, उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, तत्कालीन परिवेश में ही देखना पड़ता है। बहुत सजग होकर उसे पद-निक्षेप करना पड़ता है। उसके सामने पद-पद पर खतरे हैं, जरा-सा चूका कि उसकी सारी योजना मिट्टी में मिल गई। जिस व्यापक धरातल पर उसे वातावरण का निर्माण करना पड़ता है, उसे वही समझ सकता है। पुरातन को अपनी नूतन दृष्टि से पकड़कर उसे यह आभास देना पड़ता है कि सब पुराना ही है, किसी काल-खंड का चित्र है। इस कारण ऐतिहासिक उपन्यास लेखक को विशेष रूप से कौशल-सम्पन्न होना चाहिए, अन्यथा जिस उद्देश्य से परिचालित होकर वह सर्जना करता है, उसका वह उद्देश्य पूरा न हो सकेगा।

ऐतिहासिक उपन्यास में यदि देश-काल का अतिक्रमण कर किसी स्थायी और सार्वभौमिक तत्व की खोज का प्रयत्न हुआ तो उपन्यास की प्रभावान्विति में व्याघात उपस्थित हो जाएगा। कुशल रचनाकार देश-काल की परिधि ही में स्थायी तथा सार्वभौमिक तत्वों को व्याख्यायित कर सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास में देश-काल का आभास देने के लिए वस्तुओं आदि के नामों को युग-विशेष में प्रचलित नाम देने से प्रभाव और अच्छा पड़ता है और परिस्थिति के यथार्थ का बोध होता है। वस्तुओं के ही नाम नहीं, वरन् व्यक्तियों के नाम भी काल-विशेष के नामों से मेल खाने चाहिए। दैनन्दिन जीवन के व्यवहार में वार्तालाप का रूप भी तत्कालीन परिवेश के अनुकूल होना चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यास में वातावरण के निर्माण के लिए भाषा का भी विशेष

विशेष के जन-जीवन की साधारण से साधारण और सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व को कुशलता से अंकित करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी निरीक्षण-शक्ति जितनी प्रबल होती है और क्षेत्र-विशेष के जीवन का जितना व्यापक ज्ञान होता है, उनकी रचना उसी अनुपात में सफल सिद्ध होती है। 'रेणु' जैसे उपन्यासकार को इसी कारण इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई है। आंचलिक उपन्यास का शिलान्यास ही इस आधार पर होता है, किन्तु सामाजिक उपन्यास में यह गौण तत्व होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। लेखक समाज के जिस स्तर को लेकर चलता है, उसके सम्बन्ध में उसकी जानकारी यथेष्ट होनी चाहिए। निम्नवित्तीय वर्ग, मध्यवित्तीय वर्ग, उच्चमध्य-वित्तीय वर्ग, उच्च वर्ग सब की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं, अपनी-अपनी जीवन-दृष्टियाँ हैं। उन सब का प्रभावशाली अंकन उनकी अपनी पृष्ठभूमि में ही हो सकेगा। प्रेमचन्द ने प्रायः समस्त वर्गों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है, किन्तु कोई भी वर्णन अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। मध्य वित्तीय समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि जैनेन्द्र कुमार ने अत्यन्त मार्मिक रूप में अंकित की है। वस्तुतः उपन्यास की प्रभावमयता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए और अपने चित्रण-वर्णन को निर्दोष रखने के लिए लेखक के लिए यह आवश्यक रहता है कि वह अपनी आँखें खुली रखे और जिस समाज-विशेष का वह चित्रण कर रहा है, उसके प्रत्येक स्पन्दन और प्रत्येक क्रिया-व्यापार को इस रूप में निरीक्षित करे कि वह सब उसकी रचना-सामग्री होकर उसके प्रतिपादन सशक्त और सजीव बना सके।

ऐतिहासिक उपन्यास की रचना में रचनाकार को आंचलिक उपन्यास के समान ही या उससे कुछ अधिक देश-काल और वातावरण की निर्मिति के लिए सजग रहना पड़ता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सरल होता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा होता नहीं। कथानक का ज्ञात होना अपने आप में सब कुछ नहीं है। ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करना विशेष जटिल होता है। उसे ऐसे सजीव वातावरण का निर्माण करना पड़ता है कि पाठक को आरम्भ से ही यह अनुभव होने लगता है कि वह अपने युग से दूर किन्हीं भूतकालीन परिस्थितियों में पहुँच गया है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को और अधिक मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए ऐसी भूमिका की योजना करते हैं, जिसे पढ़कर पाठक कुछ ऐसी स्थिति में आ जाएँ कि लेखक स्वयं अपनी उद्भावित वस्तु नहीं प्रस्तुत कर रहा है, पूर्वकाल के किसी प्रामाणिक कथ्य को किंचित् परिवर्तन के साथ अपने शब्दों में अंकित भर कर रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। कुछ अन्य

शैली

प्रत्येक प्रकार की कल्पना प्रधान रचना में शैली का विशेष महत्त्व होता है। मूलतः शैली ही एक ऐसा तत्त्व है जो रचनाकार के वैशिष्ट्य का उद्घोष करता है। विषय-वस्तु को जिन प्रणालियों से तथा जिन साधनों से प्रस्तुत करने का प्रयत्न होता है, उन सब का समावेश शैली तत्त्व में हो जाता है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में इसे ही रीति कहते हैं। वामन की दृष्टि से विशिष्ट पद-रचना ही रीति है। वामन की रीति को ही आनन्दवर्धन ने संघटना का नाम दिया है। उनके अनुसार संघटना तीन प्रकार की होती है—समास-रहित, मध्यम समास से भूषित तथा दीर्घ समास युक्त। ये तीनों वामन की क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौडीय रीतियाँ ही हैं। आनन्दवर्धन ने संघटना और गुणों को अन्योन्याश्रित सिद्ध किया है, किन्तु गुण को आधार माना है और संघटना को आधेय। संघटना गुणों का आश्रय ग्रहण कर रस को अभिव्यक्त करती है।[1] संघटना के तीनों रूपों में समास रहित संघटना उपन्यास के लिए उपयुक्त होती है और यह प्रसाद गुण सम्पन्न होती है। प्रसाद गुण में समस्त रसों के प्रति समर्पकत्व गुण होता है और इसकी स्थिति सर्वसाधारण होती है। प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। यह एक ऐसा गुण है जो सर्वसाधारण रूप से सभी रचनाओं में हो सकता है। यह गुण अन्य गुणों की तुलना में अधिक प्रभावशाली होता है और पाठकों पर इसका प्रभाव उसी रूप में पड़ता है, जिस रूप में सूखी लकड़ी पर अग्नि का होता है।[2] शैली मूलतः व्यक्ति-सापेक्ष होती है। प्रत्येक लेखक अपनी शैली का निर्माण स्वयं करता है। शैली ही ऐसा तत्त्व है, जिससे लेखक के व्यक्तित्व की झलक मिलती है। विषय-वस्तु आदि की मौलिकता तो महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है शैली की मौलिकता। वस्तुतः रचना की मौलिकता का बहुत कुछ शैली पर निर्भर करता है।

---

१. ध्वन्यालोक, ३, ५—६।

२. ध्वन्यालोक, २, १०।

र पदे-पदे रसबोध का माहात्म्य में हो। भावान्तरानुसार भाषा का रूप परिवर्तित हो सकता है, किन्तु प्रत्येक अवस्था मे उसकी प्रवाहमयता अपेक्षणीय होती है। कविता की तरह में समान अलंकारमयी भाषा उपन्यास के लिए वर्जित होती है और इसी प्रकार कहानी की पहाड़ी नदी के समान क्षिप्रगामिनी भाषा भी उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल नहीं रहती। उपन्यास की भाषा समतल भूमि में प्रवहमान सरित् की उस धारा के समान होती है जो सुदूरवर्ती अपने दोनों कूलों को स्पर्शित करती, अपने भार में डूबी, पूरी गरिमा के साथ मंथर गति से आगे बढ़ती है जो ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई कुल-ललना है, जिसे अपने सुहाग का गर्व है और जिसे अपनी मर्यादा का भान है। उपन्यास-रचक समन्तात् अपनी दृष्टि डालकर आगे बढ़ सकता है, इस कारण आवेगमयी भाषा उसके लिए उपादेय सिद्ध नहीं हो सकती। कहीं-कहीं भाषा का भावमय प्रयोग वह कर सकता है, किन्तु सर्वत्र नहीं। वैचारिक धरातल को स्पृष्ट करने वाली भाषा व्यावहारिक र्थिक होती है और व्यावहारिक भाषा मे प्राण फूँक कर, उसकी आंतर छवि को काशित करते हुए उसे ऐसी कुशलता से प्रयुक्त करना कि वह पूर्णतया नवता धारण र ले, यह कुशल शैलीकार और भाषा-प्रयोक्ता का सर्वश्रेष्ठ गुण है। जाने-पहचाने ब्द ही ऐसे प्रतीत हों मानो अभी-अभी टकसाल से निकल कर आए हैं। जो लेखक सा कर सके वह उपन्यास-लेखन में अपनी शैली के कारण अविस्मरणीय रहेगा।

सामान्यतः उपन्यास-रचना में भाषा का चार रूप में प्रयोग होता है। वे चार रूप हैं स्थिर, गतिशील, अलंकृत और काव्यात्मक। स्थिर भाषा भाषा के सामान्य प्रयोग के कारण कही जाती है। जिस प्रकार इतिहास-लेखक या दार्शनिक तथ्य-निरूपण के लिए भाषा का प्रयोग करता है, उसी प्रकार स्थिर भाषा का उपन्यासकार भी। भाषा का तथ्य-निरूपक रूप साहित्य के लिए विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं होता, उसका अभि-व्यंजक रूप ही श्लाघ्य सिद्ध होता है। इसी कारण स्थिर भाषा का प्रयोग साहित्यिक रचनाओं में समादृत नहीं हो पाता। उपन्यास-रचना मे गतिशील भाषा सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। पात्रों की मनःस्थिति, परिवेश आदि के आधार पर ही भाषा का रूप-निर्माण होना चाहिए। आद्यन्त भाषा का एक ही रूप एकरसता उत्पन्न कर देता है। सफल साहित्यकार की भाषा गत्यात्मक होती ही है, क्योंकि समस्त परिस्थितियों को देखते हुए वह अपनी भाषा का रूप-निर्माण करता है और उसका मूल उद्देश्य रहता है अभिव्यंजन। अभिव्यंजन जिस किसी भी रूप मे सुन्दर रीति से सम्पादित हो सके, उसे वह अपना लेता है। गतिशील भाषा में स्थिर, अलंकृत और काव्यात्मक सभी रूप सन्नि-विष्ट हो जाते हैं। विशेषता केवल इतनी रहती है कि उक्त सभी रूप परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार में आते हैं और कहीं भी उनका आतिशय्य दृष्टिगत नहीं होता। अलंकृत भाषा में एक प्रकार की मंथरता आ जाती है और भाषा का सहज प्रवाह

एक ही विषय पर दो या अधिक लेखक लिखें, प्रत्येक अपनी अभिव्यक्ति की विशिष्टता के कारण दूसरे से भिन्न होगा। इसीलिए शैली ही व्यक्ति है, कहना अधिक यौक्तिक प्रतीत होता है। शैली को हम प्रकारान्तर से अभिव्यंजना-कौशल कह सकते हैं। वस्तुतः शैली और विषय-वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों एक-दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। जैसा विषय होगा, लेखक को उसी के अनुरूप शैली अपनानी पड़ेगी और यदि वह उस प्रकार की शैली न अपना सका तो उसका विषय लड़खड़ा जाएगा। कुछ लोग शैली को गुण के रूप में स्वीकार करते हैं। अच्छे लेखक अच्छे शैलीकार होते हैं। इससे तो यह आशय भी ग्रहण किया जा सकता है कि जो अच्छे लेखक नहीं होते, उनमें शैली का अभाव रहता है। बर्नार्ड शॉ के अनुसार पूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अथ और इति है। वस्तुतः लेखक अपने जिस विषय को प्रस्तुति करना चाहता है, उसकी प्रभावमयी अभिव्यंजना के निमित्त वह जितने प्रकार की प्रणालियों का उपयोग करता है, वे सब शैली के अन्तर्गत आती हैं। जो लेखक जितनी कुशलता और सुन्दरता से यह काम सम्पन्न कर पाता है, वह उतना ही सफल शैलीकार माना जाता है।

सारा काव्य-व्यापार शब्द-अर्थ का व्यापार है। लेखक की क्षमता पर ही यह निर्भर करता है कि वह साहित्यार्णव में डुबकी लगा कर शब्दों को खोज कर बाहर निकाले और उन्हें अपनी प्रतिभा की खराद पर चढ़ा कर उल्लीढ़ मणि का रूप प्रदान करे। जाने-पहचाने और नित्य प्रति प्रयोग में आने वाले शब्दों में वह नव जीवन और नवविच्छित्ति भर सकता है। अच्छे लेखक का अच्छा शब्द-पारखी होना नितांत अपेक्षणीय होता है। कवि की तुलना में उपन्यासकार का क्षेत्र विशाल होता है और उसका दायित्व गुरु-गंभीर होता है। वह जिस विधा को लेकर चलता है, वह विधा अपने आप में व्यापक होती है और उसका प्रसार एक बहुत बड़े जन-समुदाय में होता है। अतः उपन्यास सामान्य जन के निकट भी पहुँचने का अच्छा साधन होता है। इस कारण उपन्यास की भाषा का रूप कुछ भिन्न प्रकार का होना चाहिए, परन्तु सभी प्रकार के उपन्यासों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। लेखक को उपन्यास की विषय-वस्तु को ध्यान में रख कर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। यदि लेखक सचमुच भाषा का सफल प्रयोक्ता है तो वह विषय-वस्तु, स्थिति, औचित्य आदि को ध्यान में रख कर भाषा का प्रयोग कर सकता है और अपेक्षित प्रभाव का निर्माण कर सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि उपन्यास की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न होनी चाहिए। इस कथन से हमारा यही आशय है कि उपन्यास की भाषा स्वच्छ और गम्य होनी चाहिए। उसमें दुरूहता और दुर्बोधता नहीं होनी चाहिए, अन्यथा उसका प्रवाह विच्छिन्न हो जाएगा। उपन्यास-पाठक से लेखक को यह अपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि

(४) प्रवाह—उपन्यास की भाषा में सहज प्रवाह होना चाहिए। लेखक जो कुछ प्रस्तुत करना चाहता है, उसे इस रूप में भाषा का आधार देना चाहिए कि किसी भी रूप में ऐसा प्रतीत न हो कि उसमें आयासता है। अनगढ़, अप्रचलित, अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा कोई प्रयोग अनिवार्य प्रतीत हो तो उसके लिए आवश्यक भूमि निर्मित कर लेनी चाहिए, जिससे प्रयोग अस्वाभाविक प्रतीत न हो।

(५) प्रभावमयता—भाषा का सबसे बड़ा गुण है प्रभावमयता। लेखक की चरम सफलता इसी में निहित है। वह स्वयं शिल्पी होता है। उसके सारे साधन प्रभाव-निर्मिति की ओर ही उन्मुख रहते हैं। जिस रूप में भी वह अपनी भाषा को प्रभावमय बना सके, वही रूप उसके लिए ग्राह्य सिद्ध होता है।

भाषा साधन ही है, साध्य और कुछ है। यह बात सर्वदा लेखक की दृष्टि में होनी चाहिए। यदि उसने साधन को ही साध्य मान लिया तो जिस उद्देश्य से परिचालित होकर वह रचना-कार्य में प्रवृत्त होता है, उसका वह उद्देश्य बिखर जाएगा। भाषा शैली की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रत्येक लेखक की अपनी भाषा-शैली होती है और होनी भी चाहिए।

शैली का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है रूप-विधान। रूप-विधान के मुख्य रूप से निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं :

(१) कथात्मक शैली या ऐतिहासिक शैली।

(२) आत्मकथात्मक शैली अथवा आत्मनेपद की शैली।

(३) पत्रात्मक शैली।

(४) नाटकीय शैली।

(५) दैनन्दिनी (डायरी) शैली।

चमत्कृत हो जाता है। कहीं कहीं ऐसी भाषा का प्रयोग करना बुरा नहीं है, किन्तु जहाँ [illegible] के अन्दर भाषा का चमत्कार ही [illegible] कर देता है। काव्यात्मक भाषा के [illegible] रह जाते हैं और भाव गौण [illegible] हो जाते हैं। काव्यात्मक भाषा से इस प्रकार की [illegible] जाती है। [illegible] सिद्ध होती है, किन्तु [illegible] में सर्वत्र भाषा का [illegible] होना उपन्यास के शिल्प में सहायक नहीं होता। [illegible] कुछ ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं, जिनमें कवितात्मक तत्व का प्राधान्य होता है और वे मधुकाव्य होने के कारण [illegible] सिद्ध होते हैं। उन्हें यहाँ [illegible] [illegible] जाता है।

उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं। कुछ उपन्यास-लेखक-समालोचक उपन्यास में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करने समझते हैं। उनके अनुसार उपन्यास की भाषा गतिशील और तथ्याभिव्यंजक होनी चाहिए। कुछ ऐसे भी लेखक-समालोचक हैं जो मध्यम मार्ग को अपना कर चलना समीचीन समझते हैं। वस्तुतः उपन्यास की भाषा मात्र तथ्याभिव्यंजक हो, यह उचित नहीं है। ऐसा होने पर उपन्यास, इतिहास, दर्शन आदि की भाषा में किसी प्रकार का अंतर नहीं रह जाएगा। उपन्यास साहित्यिक विधा है, उसमें भाषा का भावमय प्रयोग आवश्यक होता है, किन्तु उपन्यास में वैचारिक धरातल कुछ ऊँचा होता है। इस कारण भावमय प्रयोग की अतिशयता प्रभाव-निर्मिति में साधक नहीं सिद्ध होती, परन्तु यथावसर भावमय प्रयोग उसके सौंदर्य के उत्कर्ष में सहायक ही सिद्ध होगा। गद्य को नीरस नहीं कहा जा सकता, वह भी पद्य के समान ही रस का वाहक है और यह मानना कि गद्य का स्वरूप केवल तथ्याभिव्यंजक ही होता है, उचित नहीं है। भाव और तथ्य दोनों की व्यंजना उससे होती है और उपन्यास में दोनों की स्थिति रहती है। जीवन गद्यात्मक (नीरस) ही नहीं है और काव्यात्मक ही नहीं है। दोनों का मिला-जुला रूप है। अतः उपन्यास की भाषा भी दोनों के मिले-जुले रूप की परिचायिका होनी चाहिए। अंततः उपन्यास जीवन की व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। अतः उसे जीवन के समान ही गतिशील होना चाहिए और उसकी भाषा भी गतिशील होनी चाहिए।

उपन्यास की भाषा सहज प्रवाहमय होनी चाहिए। उसमें इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह पाठकों को प्रभावित कर सके। ऐसा करने के लिए उपन्यासकार को निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(१) शब्द-प्रयोग—शब्द ही अभिव्यक्ति के साधन हैं। लेखक को शब्द की प्रकृति, उसकी आन्तर छटा और उसके विविध अर्थों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। साथ ही उसे यह भी जानना चाहिए कि किस समय किस रूप में उसका प्रयोग होना चाहिए। अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग के समय उसे भाव-व्यंजना की ओर विशेष ध्यान

(१) मिश्रित शैली।

(१) कथात्मक शैली या ऐतिहासिक शैली—विश्व के अधिकांश उपन्यास कथात्मक शैली में लिखे गए हैं। इस शैली में लेखक अपने पात्रों को अन्य पुरुष में प्रस्तुत करता है और उनका वर्णन करता जाता है। जहाँ जिस रूप में वह आवश्यक समझता है, अपनी ओर से टिप्पणी देता जाता है। वह तटस्थ भाव से अपनी रचना में वर्तमान रहता है और अपने पात्र के विकास को देखता रहता है। इस प्रकार की शैली में सर्वज्ञता की दृष्टि अपनाकर चलना पड़ता है। लेखक को अपनी विवृति इस रूप में प्रस्तुत करनी पड़ती है कि उसके पाठकों को यह बोध हो जाए कि वह जिन पात्रों का वर्णन कर रहा है, उनके सम्बन्ध में सब कुछ जानता है। यह बात दूसरी है कि वह सब कुछ कह देना नहीं चाहता। इस शैली से पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण का अच्छा अवसर मिलता है, क्योंकि लेखक को अपनी ओर से बहुत कुछ कहने की गुंजाइश रहती है। इस शैली को अपनाकर चलने वाला लेखक अपने विचारों, मान्यताओं और अपने जीवन-दर्शन को अधिक स्वतन्त्रता से प्रस्तुत कर सकता है। वैसे अन्य समस्त शैलियों में भी वह स्वतन्त्र रहता ही है, किन्तु शैली-विशेष के कारण उसे कुछ बन्धनों को स्वीकार करके चलना पड़ता है; जबकि इसमें ऐसा नहीं होता। वह कथानक के विकास को, वातावरण की निर्मिति को, कथोपकथन की सहजता और सजीवता को, चारित्रिक विकास को और अपने उद्देश्य को सरलतया इस शैली के माध्यम से अत्यन्त व्यवस्थित और विश्वसनीय रूप प्रदान कर सकता है। इस शैली में लेखक उन समस्त बातों को बताता चलता है, जिनका बताना वह कहानी को समझने और पात्रों के विकास के लिए आवश्यक समझता है। वह अपने पात्रों के संवेग, उनकी मनोवृत्ति आदि की विवृति उपन्यास के भीतर से प्रस्तुत कर सकता है। सर्वज्ञता की दृष्टि से लिखा गया उपन्यास बोझिल, अति विस्तीर्ण और प्रसृत हो जाता है। इस प्रकार की उपन्यास-रचना में तॉलस्तॉय को अच्छी सफलता मिली है। किन्तु उनकी रचनाओं में भी उक्त दोष मिलते हैं। इस प्रकार की रचना में लेखक को अपने पात्रों के भीतर प्रवेश करना पड़ता है, उनके भावों को अनुभूत करना पड़ता है, उनके विचारों को विचारना पड़ता है; किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। वह इस प्रकार की रचना में वहीं तक अच्छी तरह सफल हो सकता है, जहाँ तक उसके द्वारा निर्मित पात्र और उसमें कुछ सादृश्य है; किन्तु जब इस प्रकार का सादृश्य नहीं रहता तो ऐसी स्थिति में वह अपने पात्र को बाहर से ही देख पाता है और इसका परिणाम यह होता है कि
स्वाभाविकता नहीं आ पाती जो पाठकों का विश्वास अर्जित
ही ध्यान में रखकर हेनरी जेम्स ने सर्वज्ञता की
कर इस शैली को अधिक व्यावहारिक बनाने का

हुआ, उसकी भी यथोचित रूप में पूर्ति न हो सकी। अतः शुद्ध पत्रात्मक शैली उपादेय सिद्ध नहीं हो सकती।

दैनन्दिनी शैली (डायरी शैली)—दैनन्दिनी शैली भी आत्मकथात्मक शैली का ही एक रूप है। प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से इसका भी अपना महत्त्व है। डायरी लिखने वाला व्यक्ति डायरी में उन सारी बातों को लिख लेना आवश्यक समझता है, जिनका किसी न किसी रूप में प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। वह अपनी बहुत सारी दुर्बलताएं, अपने संकल्प-विकल्प और अपनी भावी योजनाएँ, जिन्हें वह साधारण रूप में किसी के सामने व्यक्त नहीं कर सकता, सहज रूप में डायरी में अंकित कर देता है। इतना ही नहीं, वरन् अपने जीवन के बहुत सारे गुप्त, रहस्यमय पक्षों को भी वह अपनी डायरी में अंकित कर सकता है। इस कारण डायरी शैली पात्र के चित्रण और मनोविश्लेषण में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। आंशिक रूप में डायरी शैली का प्रयोग करना प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है, किन्तु समग्र उपन्यास की इस शैली में रचना करना एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। यह बात दूसरी है कि कुशल कलाकार इस शैली में भी पुष्ट और पूर्ण रचना कर सकता है।

नाटकीय शैली—मुख्यतः यह दो रूप में प्रयुक्त होती है—संलापात्मक रूप में और नाटक-विधान की शैली के रूप में। संलापात्मक शैली का प्रयोग भी आंशिक रूप में ही होता है। सारा उपन्यास इसी शैली में नहीं लिखा जा सकता और नाटकीय विधान भी उपन्यास में कहीं-कहीं योजित होता है। वस्तुतः ऐतिहासिक शैली ही में इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

मिश्रित शैली—मूलतः दो मुख्य शैलियाँ ही प्रयोग में आती हैं। वे हैं ऐतिहासिक शैली और आत्मकथात्मक शैली। इन दोनों शैलियों को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए और रचना-प्रविधि को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें अन्य शैलियों को भी मिश्रित कर दिया जाता है। आत्मकथात्मक शैली में पत्रात्मक और डायरी शैली का मिश्रण कथा-प्रवाह को गति दे सकता है, पात्रों के चरित्र पर बहुत ; प्रकाश डाल सकता है और इसके माध्यम से लेखक को बहुत कुछ कहने का .. प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक शैली में अन्यान्य शैलियों को मिश्रित कर लेखक अपने रचना-विधान को आकर्षक और प्रभावशाली बना सकता है।

इन शैलियों के अतिरिक्त और भी शैलियाँ सुविधानुसार प्रयुक्त की जा सकती हैं। लेखक को केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह शैलीकार ही नहीं है, प्रत्युत वह उपन्यासकार है। कहीं ऐसा न हो कि शैली के पीछे उसकी मूल विषय-वस्तु तिरस्कृत हो जाए।

सो अच्छा हो। लेखक ऐसी स्थिति में रहता है कि अन्य पात्रों के साथ उसका निकट का सम्बन्ध रहता है। इस स्थिति में वह औपन्यासिक क्रिया का कर्ता न होकर द्रष्टा-मात्र रहता है। वह पाठकों को अपने विश्वास में ले लेता है और वह जो कुछ जानता है उसे पाठकों तक पहुँचा देता है। इस प्रकार की शैली से लेखक कथा-वस्तु की सत्याभासता सफलतापूर्वक प्रतिपादित कर सकता है और पाठकों को अधिक मात्रा में प्रभावित कर सकता है।

पत्रात्मक शैली—उपन्यास-लेखन में पत्रात्मक शैली भी अपनाई जाती है, किन्तु सामान्यतः आंशिक रूप में ही। बहुत कम उपन्यास ऐसे हैं जो आद्यन्त पत्रात्मक शैली में लिखे गये हैं। पत्रात्मक शैली में भी आत्मनेपद का ही प्रयोग होता है। पत्र पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के अच्छे माध्यम सिद्ध हो सकते हैं। पात्र जिन बातों को किसी कारणवश सामने नहीं कह सकते, उन्हें पत्रों में सरलता से व्यक्त कर देते हैं। मनो-विश्लेषण के लिए भी यह अच्छा साधन है। आत्मनेपद में लिखे गए पत्रों के लिखने वाले पात्र अनेक हो सकते हैं। किन्तु सभी अपने-अपने विचार, भाव, रुचि-अरुचि आदि अपने पत्रों में प्रकट कर देते हैं। इसमें अनेक पात्रों की बहुत सारी विशिष्टताएँ सामने आ जाती हैं। इस प्रकार की शैली में सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि औपन्यासिक घटना सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है। पाठक ऐसा अनुभव कर सकते हैं कि इस प्रकार के पत्र उन व्यक्तियों के द्वारा ही लिखे गए होंगे, जिनके नाम से वे दर्शाए गए हैं और उनके (पाठक के) पास विश्वासघात के कारण पहुँच गए होंगे। इस प्रकार का सत्याभास जो प्रतीत होता है, उसी की प्राप्ति उपन्यासकार का उद्देश्य होता है। वह यह चाहता है कि वह जो कुछ कह रहा है, उसे पाठक यथार्थतः घटित हुआ समझ लें, भले ही वह असम्भाव्य ही क्यों न हो। किन्तु इस प्रकार की शैली विशेषतः त्रुटिपूर्ण होती है। यह कहानी कहने की अत्यन्त जटिल और उलझी हुई शैली है।

शुद्ध पत्रात्मक शैली में लिखे जाने वाले उपन्यास में वातावरण-सृष्टि एक विकट समस्या है। कुछ उपन्यास ऐसे हो सकते हैं, जिनमें वातावरण की निर्मिति महत्त्वपूर्ण न हो और कथानक का विकास पत्रों से सूचित होता रहे; किन्तु सभी प्रकार के उपन्यास इस शैली में नहीं लिखे जा सकते। पात्रों का पूर्ण विकास, घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध और पूर्ण वर्णन भी इस प्रकार की शैली में संभव नहीं हैं। अतः यह माना जा सकता है कि आंशिक रूप में पत्रात्मक शैली का प्रयोग औपन्यासिक प्रभाव को संवर्द्धित करता है, किन्तु मात्र इसी शैली का प्रयोग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है और लेखक की सफलता संदिग्ध बनी रहती है। जो उपन्यास इस शैली में लिखे गए हैं, वे संघटना की दृष्टि से सफल सिद्ध नहीं हुए हैं और जिस प्रभाव-सृजन के लिए उनका निर्माण

व्यक्तियों की अपेक्षा वह विस्तार और व्यापक पैमाने पर और योजना से उन्हें रचता है। ये सब उसके मानसिक क्रियात्मक साधन हैं जो उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।[1]

अन्य साहित्यकार के समान ही उपन्यासकार भी जीवन की व्याख्या और आलोचना प्रस्तुत करता है। मूलतः वह जीवन को जिस रूप में ग्रहण करता है, उस रूप में उसकी जीवन की व्याख्या और आलोचना होती है। वह जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण निर्मित कर लेता है और उसी के आधार पर सारा चित्रण करता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि वह जैसा जीवन जीता है, वैसा ही वह चित्रण भी करे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी निजी अनुभूति सर्वत्र उसकी रचना में प्रधान रहती है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसकी अनुभूति का बहुत बड़ा अंश अर्जित होता है। वह जीवन और जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। व्यक्तियों के बाह्य जीवन तक ही सीमित न रह कर उनके अन्तर्जगत् में भी प्रवेश करने का प्रयत्न करता है और उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि का अवलोकन कर उनकी चारित्रिक विशेषता का समझने का प्रयत्न करता है। उसकी निरीक्षण-शक्ति का उसकी रचनाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। लेखक जो कुछ अनुभूत करता है, जो कुछ निरीक्षित करता है, उन सब पर गंभीरता-पूर्वक मनन-चिन्तन करता है और यही सब वे तत्त्व होते हैं जो उसके जीवन-दर्शन के निर्माण में सहायक होते हैं। उसके अंत: संस्कार और जीवन-दर्शन के आधार पर ही उसकी रचना का उद्देश्य जाना जा सकता है। ऐसा प्रश्न उत्थित हो सकता है कि क्या किसी उद्देश्य-विशेष से परिचालित होकर वह अपनी रचना प्रस्तुत करता है? उद्देश्य निर्धारित करके कोई रचना नहीं लिखी जाती और यदि लिखी जाती है तो उसका केवल प्रचारात्मक महत्त्व होता है। रचना अनिवार्यता के रूप में आनी चाहिए। तभी रचना का महत्त्व हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनिवार्यता-रूप में रचना की प्रसूति के पीछे लेखक का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, किन्तु वह आरोपित न होकर रचना-प्रविधि में ही स्वाभाविक रूप में विकसित होता है, अलग करके नहीं देखा जा सकता, वरन् समग्र रचना में वह आद्यन्त अनुस्यूत है। जीवन और जगत् को देखने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं जो अनेक वादों के रूप में देखे जाते हैं। आदर्शवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, यथार्थवाद, अतियथार्थवाद, प्रकृतिवाद आदि के पीछे लेखक की दृष्टि का ही महत्त्व है। समस्त वादों के मूलतः दो ही महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं: वह जीवन को किस रूप में देखता है, किस रूप में चित्रित करना चाहता है। आदर्श जीवन के सत्य को स्वीकार कर

---

1. विशेष रूप से द्रष्टव्य प्रस्तुत लेखक के ग्रंथ 'साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन' का पाँचवाँ अध्याय।

उद्देश्य

उपन्यास-रचना का उद्देश्य क्या हो सकता है ? क्या इसके साथ यह प्रश्न भी उभर कर नहीं आता कि साहित्य-रचना का उद्देश्य क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर बहुत सारी चर्चा हो चुकी है। अनेक युगों से चर्चा चली आ रही है और आज भी यह क्रम जारी है। कोई कविता क्यों लिखता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रतिप्रश्न से दिया जा सकता है कि पक्षी क्यों गाता है ? गाना पक्षी का स्वभाव है और कविता लिखना कवि का स्वभाव है। किन्तु वह क्यों लिखता है ? उसकी जो अनुभूति है, जो उद्दाम आवेग है, उसे वह चाह कर भी प्रतिरुद्ध नहीं कर पाता। उसकी रचना-प्रक्रिया इस रूप मे उसे जकड लेती है कि यदि वह स्वतः न भी लिखना चाहे तो भी रचना-प्रक्रिया उसे लिखने के लिए बाध्य कर देगी। प्रत्येक कलाकार के साथ ऐसा ही होता है और उपन्यासकार भी कलाकार होने के कारण इसी प्रक्रिया का भागी होता है।

उपन्यासकार भी अन्य कलाकारो के समान ही संवेदनशील और प्रतिभा-सम्पन्न होता है। वह जिस परिवेश मे विकसित होता है, उससे यथेष्ट मात्रा मे प्रभावित होता है। वह अपने आस-पास जो कुछ देखता है, सुनता है और स्वयं अपने जीवन मे जो कुछ भोगता और सहन करता है, वह सब उसकी अनुभूति के तत्त्व बन जाते हैं। जीवन के प्रति भी उसका जो दृष्टिकोण निर्मित होता है, उसका बहुत बड़ा दायित्व उसकी जीवनानुभूतियो का होता है, जिन्हे वह अपने परिवेश एवं अपने अध्ययन से विकसित कर पाता है। जीवन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है या हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण दूसरे से प्रायः भिन्न होता है। एक ही विचार-धारा रखने वाले व्यक्ति भी अपनी रुचि-अरुचि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। सैद्धांतिक आधार एक हो सकता है, किन्तु वैयक्तिक आधार भिन्न हो सकता है। जीवन की विभिन्न अवस्था मे व्यक्ति की मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ कैसी होती है, उन्हीं पर उसके भाव-कोश, रुचि-अरुचि आदि के निर्माण होते हैं और उन्हीं के आधार पर उसकी जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है, जिसे वह अध्ययन के आधार पर

व्यक्तियों की अपेक्षा वह विशाल और व्यापक पैमाने पर और शीघ्रता से उन्हें पचा
है। यह सब उसके मानसिक कलात्मक साधन हैं जो उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभा
करते ।[1]

अन्य साहित्यकार के समान ही उपन्यासकार भी जीवन की व्याख्या
आलोचना प्रस्तुत करता है। मूलतः वह जीवन को जिस रूप में ग्रहण करता है,
रूप में उसकी जीवन की व्याख्या और आलोचना होती है। वह जीवन के प्रति
दृष्टिकोण निर्मित कर देता है और उसी के आधार पर सारा चित्रण करता है।
कोई आवश्यक नहीं है कि वह जैसा जीवन जीता है, वैसा ही वह चित्रण भी क
इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी निजी अनुभूति सर्वत्र उसकी रचना में प्रधान रहती
किन्तु इसके अतिरिक्त उसकी अनुभूति का बहुत बड़ा अंश अर्जित होता है। वह जी
और जगत् का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। व्यक्तियों के बाह्य जीवन तक ही सीमि
रह कर उनके अन्तर्जगत् में भी प्रवेश करने का प्रयत्न करता है और उनकी सूक्ष्म
सूक्ष्म गतिविधि का अवलोकन कर उनकी चारित्रिक विशेषता को समझने का प्र
करता है। उसकी निरीक्षण-शक्ति का उसकी रचनाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता
लेखक जो कुछ अनुभूत करता है, जो कुछ निरीक्षित करता है, उन सब पर गंभीर
पूर्वक मनन-चिंतन करता है और यही सब वे तत्त्व होते हैं जो उसके जीवन-दर्शन
निर्माण में सहायक होते हैं। उसके अतः संस्कार और जीवन-दर्शन के आधार पर
उसकी रचना का उद्देश्य जाना जा सकता है। ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि
किसी उद्देश्य-विशेष से परिचालित होकर वह अपनी रचना प्रस्तुत करता है? उ
निर्धारित करके कोई रचना नहीं लिखी जाती और यदि लिखी जाती है तो उ
केवल प्रचारात्मक महत्त्व होता है। रचना अनिवार्यता के रूप में आनी चाहिए।
रचना का महत्त्व हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनिवार्यता-रूप में र
की प्रस्तुति के पीछे लेखक का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, किन्तु वह उ
आरोपित न होकर रचना-प्रक्रिया में ही स्वाभाविक रूप से विकसित होता है।
अलग करके नहीं देखा जा सकता, वरन् समग्र रचना में वह व्याप्त अनुस्यूत
है। जीवन और जगत् को देखने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं जो [illegible]
[illegible] रूप में देखे जाते हैं। आदर्शवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, यथार्थवाद, [illegible]
प्रकृतिवाद आदि के पीछे लेखक की दृष्टि का [illegible]
मुख्यतः दो ही महत्त्वपूर्ण [illegible] होती हैं [illegible]
जिस रूप में चित्रित करता चलता है। [illegible]

---

1. विशेष रूप से द्रष्टव्य प्रस्तुत लेखक के [illegible]
अध्ययन' का [illegible] प्रकरण।

और अवधारणा की विजय सहित होती है। अवतरित करने के लिए अन्तः संघर्ष जितना प्रबल होगा, कला-कृति उतनी ही सुन्दर होगी। यदि कला की विषय-वस्तु आरंभ में असबद्ध और अवलम्बित होगी तो कला-कृति बहुत ही कम प्रभावोत्पादक होगी तथा प्रमाता उसमें किसी प्रकार की रुचि न ले सकेगा। मस्तिष्क के इस अन्तः संघर्ष को हम प्रेरणा के नाम से अभिहित कर सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इसे वर्णित करने में पर्याप्त ध्यान दिया है। कुछ लोगों ने इसे अचेतन मस्तिष्क के क्रिया-रूप में ग्रहीत किया है। अचेतन मस्तिष्क की क्रियाएँ स्वायत्त मानी जाती हैं और उनमें परिष्करण तथा उद्भवन की शक्तियाँ भी मानी जाती हैं। सामान्य रूप में मनोविज्ञानवेत्ता आकस्मिक प्रकाश या प्रेरणा भावों की क्रिया में किसी आकस्मिक प्रवेश के कारण मानते हैं। इस प्रकार आकस्मिक रूप में प्रविष्ट भाव भावों की सुन्दर संहति में अति शीघ्र सन्निविष्ट हो जाते हैं। रचना-प्रक्रिया में व्याप्त भावात्मकता का सर्व प्रथम स्थान रूप या विचार का प्रच्छन्न आदर्श रहता है। इस आदर्श का निर्माण कौन करता है और इसे अस्तित्व में कौन लाता है, यह अविज्ञेय है। दूसरी अवस्था में उन बिम्बों या स्मृतियों का आकस्मिक रूप में क्रियान्वय होता है जो प्रेरणा के क्षण तक अचेतन मस्तिष्क में प्रच्छन्नावस्था में पड़े रहते हैं। आकस्मिक बिम्ब कलाकार की प्रणोदित रुचि से आलोचित होता है, वरण किया जाता है या छोड़ दिया जाता है और यदि वरण कर लिया जाता है तो सतत परिव्याप्त भावात्मकता से यह विकसित और परिवर्तित कर लिया जाता है। यदि भावात्मक प्रवृत्ति एकाएक और प्रबल रूप में उद्बुद्ध कर दी जाती है तो संवेग की ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि प्रथम आकस्मिक बिम्ब की चेतनावस्था में आने वाले सभी भाव और बिम्ब चेतना की तीव्रता से सम्पन्न हो जाते हैं। इसे भावोन्माद की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में ऐसा प्रतीत होता है मानो भावात्मक प्रवृत्ति को अलंकृत करने के लिए बिम्ब पूर्णतया सज्जित होकर अपने रहस्यमय स्थान से प्रकट होने लगते हैं। किन्तु इस स्फुरण या भावोन्माद की अवस्था में भी बिम्बों का वरण और त्याग होता रहता है। तथापि सर्जनात्मक क्रिया तभी होती है, जबकि उपयुक्त शब्द या बिम्ब प्राप्त हो जाता है। पूरी की पूरी रचनात्मक प्रक्रिया इन प्राथमिक सर्जनात्मक क्षणों का मात्र आकलन है।

लेखक कोई एकांत सेवी व्यक्ति नहीं होता, जो किसी जनशून्य द्वीप में निवास करता हो, अपितु वह एक ऐसे समुदाय में जन्म लेता है, जिसके प्रभाव से समुदाय के अन्य व्यक्तियों के साथ प्रभावित होता रहता है। वह वस्तुतः समुदाय के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ग्रहणशील और अधिक संवेदनशील होता है। इस कारण वह सामुदायिक विचार तथा अपने आस-पास के वातावरण से अत्यधिक मात्रा में प्रभावित होता है और उसमें उन समस्त प्रभावों को पचाने की अद्भुत शक्ति होती है। अन्य

पक्ष की ओर इंगित करता है। यह बुराइयों को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु बुराइयों के साथ अच्छाइयों को भी देखता है और अच्छाइयों को भी प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करता है। जीवन क्या है, इतना ही उसका उद्देश्य नहीं होता, वरन् जीवन कैसा होना चाहिए, यह उसका मुख्य उद्देश्य होता है। यथार्थ जीवन के यथार्थ या वास्तविक पक्ष को महत्त्व देता है। जीवन क्या है और कैसा है, यही इसका क्षेत्र है। यथार्थ केवल असद् ही नहीं है, सद् भी है। सारा संसार सद्-असद् का समाहार है। अतः यथार्थ में दोनों को परिगृहीत करना चाहिए। केवल असद् पक्ष को प्राधान्य देना और सद् पक्ष को नकारना दृष्टि-दोष का परिचायक है। अतियथार्थवाद और प्रकृतिवाद वस्तुतः लेखक की दृष्टि की एकांगिता के प्रतिफल हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' सचमुच समाज के गहरे स्तर में प्रवेश करके ही उसकी अच्छाइयों बुराइयों को समझा जा सकता है। रुग्ण से रुग्ण समाज में कुछ अच्छाइयाँ भी हो सकती हैं। अतः लेखक का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि समाज की बुराइयों की धज्जियाँ उड़ाते हुए उसकी अच्छाइयों की ओर संकेत करते हुए कुछ ऐसे रचनात्मक पक्ष भी प्रस्तुत करे, जिससे रुग्ण समाज के रोग का निदान भी हो सके और भविष्य की निर्माणोन्मुख प्रवृत्तियाँ भी गतिशील हो सकें। निर्ममता से रुग्णतः मात्र का उद्घाटन अपना कोई अर्थ नहीं रखता, उसके पीछे प्रच्छन्न उद्देश्य-निहिति विशेष महत्त्वपूर्ण होती है।

रचना-विकास की स्वाभाविकता को बनाए रखने के साथ लेखक को अपने उद्देश्य-प्रतिपादन के लिए आगे बढ़ना चाहिए। ऐसा कहना कि रचनाकार का कोई उद्देश्य नहीं होता, भ्रांति का आश्रय ग्रहण करना होगा। रचनाकार जीवन-जगत् के प्रति जो दृष्टिकोण निर्मित करता है, उसका प्रसार देखना चाहता है। वह उसी से प्रभावित होकर जीवन की आलोचना और व्याख्या करता है। कभी-कभी किसी सिद्धांत-विशेष को भी व्याख्यायित करने के उद्देश्य से और उसके माध्यम से पाठकों में नवीन प्रभाव-सृष्टि के उद्देश्य से परिचालित होकर वह अपनी रचना प्रस्तुत करता है। उनके लिए इतना ही आवश्यक होता है कि अपनी रचना की स्वाभाविकता को पूर्णतया रक्षा करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करे। रचना पर सिद्धांत की प्रधानता न होकर रचना के स्वाभाविक विकास में उसका योग होना चाहिए। तभी वह अपने प्रयत्न में सफल हो सकेगा। साहित्य समाज के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। सामाजिक विकास में उसका बहुत बड़ा योगदान होता है। इस कारण साहित्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य ही होना चाहिए। इतना अवश्य है कि वह उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट न होकर आक्षिप्त होना चाहिए। पाठक को ऐसा प्रतीत नहीं होना चाहिए कि लेखक उसे कुछ सिखा रहा है, वरन् उसे ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि रचना से वह जो [illegible] रहा है, वह उसके अपने श्रम का फल है और उसने स्वयं रचना का [illegible]

मान लिया है।

कुछ लोग साहित्य को नीति और शिक्षा का माध्यम स्वीकार करते हैं, किन्तु साहित्य इन सबसे ऊपर होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्य अनीति का प्रचारक नहीं होता। इसी प्रकार वह नीति का प्रचारक भी नहीं होता। वस्तुतः वह दोनों से परे होता है, किन्तु परोक्ष रूप में नीति से सम्बद्ध रहता है। साहित्य लोक-मंगल-विधान के लिए होता है और लोक-मंगल-विधान का सम्बन्ध नीति से प्रत्यक्ष रूप में होता है। अतः उत्कृष्ट रचनाएँ नीति से विलग होकर नहीं चल सकती। किन्तु नीति उनमें आक्षिप्त रहती है, वह प्रखर और प्रधान नहीं रहती। वस्तुतः वही रचना सशक्त और प्राणवान् सिद्ध होती है जो लोक-मंगल-विधान को प्रमुखता देकर आगे बढ़ती है। अराजक सिद्धांत और जीवन के प्रति किसी प्रकार के दृष्टिकोण के विकास के अभाव के कारण ही रचनाकार कोई ऐसा विधान नहीं कर पाता जो लोक-मंगल-विधायी सिद्ध हो सके।

उपन्यास मनोरंजन का साधन माना जाता है। ऐसा मानना साहित्य के उद्देश्य को झुठलाना है। मनोरंजन सस्ती वस्तु है, जबकि उपन्यास का अपना महत्त्व है। वह मनोरंजन का साधन न होकर और अधिक महान् तथा गंभीर उद्देश्य का साधन है, जिसे हम एकधन आनन्द की उपलब्धि कह सकते हैं। 'आनन्द' मनोरंजन की तुलना में महार्घ और महनीय भाव का द्योतक है। लोक-मंगल, नीति, आदर्श सभी उसकी निर्मिति के अंग-रूप सिद्ध हो सकते हैं। लेखक उपन्यास-रचना से अपने पाठकों को आनन्द प्रदान करता है। यह कथन अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसकी रचना जितनी प्रभविष्णु होगी, जितनी लोक-मंगल-विधायिनी होगी और आदर्श तथा नीति की भावना से अनुप्राणित होकर जितनी स्वाभाविक होगी, रचना में उतनी ही सांद्रता होगी और उतनी ही आनन्द उद्रिक्त करने की शक्ति होगी और वह रचना उतनी ही परिपुष्ट सिद्ध हो सकेगी। यथार्थ के संस्पर्श से रचना की प्रभावशालिता बढ़ती ही है, यदि लेखक स्वाभाविक रूप में यथार्थ का चित्रण करते हुए सत्-असत् दोनों पक्षों को यथोचित प्रस्तुत करता है। किसी भी प्रकार की भावना को प्रस्तुत करते समय औचित्य का रखना आवश्यक होता है, अन्यथा लेखक का सारा उद्देश्य निष्फल सिद्ध होता है लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही लेखक को जीवन का चित्र प्रस्तुत करना चाहिए किसी वाद-विशेष को अपनाना चाहिए।

जीवन-जगत् और मानव-प्रकृति का लेखक को जितना अच्छा ज्ञान होगा, उस रचना में उतना ही गांभीर्य और प्रभावित करने की शक्ति होगी। इसके साथ ही अपन सामग्री को वह जिस सीमा तक कलात्मकता प्रदान कर सकता है, उसी सीमा तक रचना का मूल्य ी सिद्ध होगा। मानव-मूल्य की स्थापना प्रत्येक रचना का उद्देश्य हो

सकती है और इसे लेखक मानव चरित्र के विभिन्न धाराओं के उद्घाटन-विश्लेषण में सम्पादित कर सकता है। आधुनिक साहित्यिक विधाओं में उपन्यास ही एक ऐसी विधा है, जिसके माध्यम से लेखक जीवन के महत्तर मूल्यों को विवेचित-विश्लेषित कर अपने पाठकों को नया प्रकाश दे सकता है, क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तर-बाह्य वृत्तियों और परिस्थितियों का इसमें पूरी स्वतंत्रता से आकलन-विवेचन हो सकता है और लेखक अपने पाठकों की अनुभूतियों के सर्वांगीण विकास के साथ और कुछ ठोस तथा गंभीर अनुभूति प्रदान कर सकता है जो आनन्द की उपलब्धि में सहायक सिद्ध होती है।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यास-साहित्य का आधुनिक विस्तार और विकास हुआ है। इस क्षेत्र मे अनेक प्रकार के नवीन प्रयोग भी हुए हैं। इस कारण इसके प्रकारो मे भी असाधारण वृद्धि हुई है। सामान्यतः उपन्यासों का वर्गीकरण दो आधार पर किया जाता है : पहला आधार वर्णन-प्रणाली का है और दूसरा वर्ण्य विषय का। वर्णन-प्रणाली के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है उसमे घटना-प्रधान या क्रिया-प्रधान, चरित्रप्रधान और नाटकीय उपन्यासों की परिगणना की जाती है। वर्ण्य-वस्तु के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि अनेक भेद किए जाते हैं। मूलतः वर्णन-प्रणाली का ही विशेष महत्व होता है। किसी प्रकार की वर्ण्य वस्तु क्यों न हो, किन्तु वह किसी न किसी वर्णन-प्रणाली में अन्तर्भुक्त हो जाएगी। सामाजिक वर्ण्य वस्तु हो या राजनीतिक, पौराणिक हो या ऐतिहासिक। उसके लिए लेखक जो वर्णन-प्रणाली अपना कर चलेगा, उसी के आधार पर उसका नामकरण होना चाहिए। कथा-वस्तु इतिहास से गृहीत होने के कारण ही कोई उपन्यास ऐतिहासिक कहा जाता है, जबकि वह घटना-प्रधान हो सकता है, चरित्रप्रधान हो सकता है अथवा नाटकीय हो सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास अतीत का चित्र प्रस्तुत करता है। उसमें अन्य उपन्यासों की तुलना मे लेखक की कल्पना का योग अधिक रहता है और उसकी रचना का आदर्श भी किंचित् ... होता है। अतः हम ऐतिहासिक उपन्यासो को वर्ण्य वस्तु की विशेषता के कारण ... अलग प्रकार मान सकते हैं, किन्तु अलग प्रकार मानना केवल सुविधा की दृष्टि से अन्यथा उपर्युक्त तीनों प्रकारों मे उसका भी सहज रूप मे अन्तर्भाव हो जाता है। ऐतिहासिक के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी एक नए प्रकार के रूप मे परिगृहीत किया जाता है, जबकि इसका भी अन्तर्भावउक्त तीनों प्रकार मे हो जाता है। एडविन मूर ने घटना प्रधान (क्रिया प्रधान), चरित्रप्रधान और नाटकीय के अतिरिक्त वृत्त प्रधान और सामयिक उपन्यासो की भी चर्चा की है। हम उनके साथ ऐतिहासिक और

घटित हो जाते हैं और अन्त में आश्चर्यजनक ढंग से सुलझ जाते हैं। इनमें महत्ता क्रिया की होती है और पात्र के आचरण उसके प्रति आकस्मिक होते हैं तथा ऐसे होते हैं, जिनसे कथानक को सहायता मिलती है। वह उपन्यास जो विलक्षण घटनाओं का वर्णन इस रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे पाठकों का मनोरंजन हो, सभी प्रकार के उपन्यासों से पाठकों की संख्या की दृष्टि से बड़ा होता है। क्रियाप्रधान उपन्यास इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार के उपन्यास में यह अपरिहार्य होता है कि उसमें जीवन से पलायन रहता है, किन्तु इसके साथ ही यह भी अपरिहार्य होता है कि यह पलायन अधिक सुरक्षित रहे। यह पलायन केवल आनन्दात्मक (रोमांचक) ही न हो, वरन् अस्थायी भी हो। क्रियाप्रधान उपन्यास में गौण पात्रों की मृत्यु, दुष्ट पात्रों की हत्या आदि की विवृति रहती है। कुछ अच्छे पात्रों का बलिदान भी इसमें निहित रहता है। अन्त में नायक अपने सुख वातावरण से समृद्धि और शांति की स्थिति में वापस आ जाता है। इसका कथानक हमारे ज्ञान के अनुसार न होकर हमारी इच्छा के अनुसार होता है। यह इच्छाओं की विलक्षण कल्पना है, यह जीवन का चित्र नहीं है। यह प्रायः साहित्यिक महत्त्व का नहीं होता, कुछ सीमा तक यह चरित्रप्रधान भी होता है।

गल्प में चरित्रप्रधान उपन्यास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधाओं में से एक है। ऐसे उपन्यास में पात्र कथानक के अंग-रूप में नहीं परिगणित किए जाते, अपितु उनका स्वतंत्र महत्त्व होता है और क्रिया उनकी अनुगत या सहयोगिनी होती है; जबकि क्रियाप्रधान उपन्यास में विशिष्ट घटना के विशिष्ट परिणाम होते हैं; किन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यास में स्थिति सामान्य या प्रतिरूपात्मक होती है और वह इस रूप में प्रस्तुत की जाती है, जिससे पात्रों के सम्बन्ध में और अधिक जाना जा सके अथवा नए पात्रों को लाने के लिए उसकी योजना की जाती है। जब तक ऐसा होता है, तब तक कोई भी संभावित घटना घटित हो सकती है। ऐसे उपन्यासों के पात्र प्रायः स्थिर होते हैं। वे ऐसे परिदृश्य के समान होते हैं जो हमें उस स्थिति में विस्मित कर देते हैं, जबकि हम उन्हें किसी दूसरे परिप्रेक्ष्य से देखते हैं। इसके पात्र स्थिर या चतुरस्र (Flat) होते हैं, जबकि आधुनिक आलोचक गतिशील या वृत्तात्मक (Round) पात्र पसंद करते हैं; किन्तु चरित्रप्रधान उपन्यास के लिए चतुरस्र पात्र ही ऐसे हो सकते हैं जो उसके उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। ऐसे पात्रों के माध्यम से ही वह एक प्रकार का जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार के उपन्यास के पात्र गत्यात्मक अवस्था में रहते हैं और इसका कथानक शिथिल और सरल होता है तथा पात्रों के प्रकाशन के लिए उसकी व्यवस्था की जाती है। यहाँ पर दो प्रकार के उपन्यासों की चर्चा की गई : पहला क्रियाप्रधान उपन्यास, जिसमें कथानक को सुन्दर ढंग से

निर्मित किया जाना चाहिए और दूसरा चरित्रप्रधान, जिसमें कथानक को निश्चित कर दिया जाना चाहिए। किन्तु उक्त दोनों प्रकार सिद्धान्त रूप में ही पृथक् किए जा सकते हैं, व्यवहार में नहीं। चरित्रप्रधान उपन्यास में सामाजिक जीवन का संकेत भी रहता है।

नाटकीय उपन्यास (Dramatic novel)—नाटकीय उपन्यास में पात्र और कथानक का अन्तर समाप्त हो जाता है। पात्र कथानक के अंग के अंग मात्र नहीं रहते और कथानक पात्रों के बाह्य ढांचे के समान नहीं रहता, अपितु दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। पात्रों के गुणों से क्रिया का निर्धारण होता है और क्रिया से पात्रों में परिवर्तन आता रहता है। इस प्रकार उपन्यास की प्रत्येक वस्तु समाप्ति की ओर ले जाई जाती है। नाटकीय उपन्यास उसी प्रकार काव्यात्मक त्रासदी से साम्य रखता है, जिस प्रकार चरित्रप्रधान उपन्यास का कामदी से साम्य होता है। किन्तु अपने समस्त रूपों में नाटकीय उपन्यास का त्रासद होना आवश्यक नहीं है। क्रियाओं की गंभीरता नाटकीय उपन्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नाटकीय उपन्यास में हास्योद्दीपक तत्त्वों का भी समावेश हो सकता है। चरित्रप्रधान उपन्यास यथार्थ और आभास के बीच जो अंतर होता है, उसे स्पष्ट करता है। वह यह भी स्पष्ट करता है कि लोग समाज में अपने आप को किस रूप में प्रदर्शित करते हैं और वास्तव में होते क्या हैं। नाटकीय उपन्यास यह प्रदर्शित करता है कि यथार्थ और आभास दोनों एक हैं और चरित्र ही क्रिया है तथा क्रिया ही चरित्र है। नाटकीय उपन्यास में विविध तत्त्वों का संश्लेषण रहता है, पर मात्र विरोध ही विरोध नहीं रहता। पात्रों में यदि कुछ अपरिवर्त्य रहता है तो वह तर्कसंगत रहता है और वह अपरिवर्त्य तत्त्व दूसरों के प्रति उसके व्यवहार और स्थिति-विशेष में उसके क्रिया-कलाप का निश्चायक होता है। इसमें एक प्रकार का विकास होता है, जो वहाँ तक स्वतः स्फूर्त और तर्कसगत होता है, जहाँ तक पात्र परिवर्तित होते हैं और पात्रों के परिवर्तन से नई सम्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। नाटकीय उपन्यास के कथानक का वास्तविक व्यवच्छेदक वैशिष्ट्य यही स्वतः स्फूर्त, विकासात्मक तर्क है। आरम्भ में कथित और अपरिवर्त्य तथ्यों से प्रत्येक वस्तु का विकास होता है, परन्तु इसके साथ ही समस्या के रूप परिवर्तित होते हैं, जिनसे अदृष्ट परिणामों का सृजन होता है। तर्कसंगत और स्वतःस्फूर्त दोनो तत्त्व आवश्यकता और स्वतंत्रता नाटकीय कथानक में समान महत्त्व के हैं। क्रिया की रूपरेखा निश्चित की जा सकती है, किन्तु जीवन को उसे निरन्तर सींचना चाहिए, मोड़ना चाहिए और सीमा का कटाव व्युत्पादित करना चाहिए। यदि स्थितियाँ तार्किक आधार पर निर्मित की जाती हैं और उनमे मुक्त जीवन का प्रवाह नहीं है, तो भले ही पात्र सच्चे हों, किन्तु परिणाम यांत्रिक ही होगा। साथ ही यदि स्वतंत्रता

पर अधिक बल दिया जाता है तो भी प्रभाव उसी रूप में हलका हो जाता है। नाटकीय उपन्यास का अंत समस्या के समाधान में होता है। संतुलन अथवा मृत्यु ये दो ही ऐसे लक्ष्य हैं, जिनकी ओर नाटकीय उपन्यास का विकास होता है। चरित्रप्रधान उपन्यास का कथानक विस्तृत होता है और नाटकीय का गंभीर होता है। चरित्रप्रधान उपन्यास की क्रिया का आरम्भ किसी एक पात्र से या मूल केन्द्र-बिन्दु से होता है और उसका विस्तार उस आदर्श परिधि की ओर होता है जो समाज का प्रतिमान है। नाटकीय उपन्यास की क्रिया कभी भी किसी एक पात्र से आरम्भ नहीं होती, दो या उससे अधिक पात्र रहते हैं, उसकी परिधि में अनेक बिन्दु होते हैं जो जटिल होते हैं, मूल केन्द्र-बिन्दु नहीं होता और वह उपन्यास केन्द्राभिमुख रहता है तथा किसी एक क्रिया की ओर उसकी उन्मुखता रहती है, जिसमें अन्य सहायक क्रियाएँ सम्मिलित और समाहित हो जाती हैं। नाटकीय उपन्यास अनुभूति की वृत्तियों का चित्र होता है, जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास अस्तित्व की वृत्तियों का चित्र होता है।

नाटकीय उपन्यास का कल्पनात्मक जगत् काल में और चरित्रप्रधान का कल्पनात्मक जगत् देश में निहित रहता है। प्रथम में देश की स्थिति गौण होती है और दूसरे में काल की। चरित्रप्रधान उपन्यास का मूल्य सामाजिक है और नाटकीय का वैयक्तिक या सार्वभौमिक। प्रथम में हम पात्रों को समाज में पाते हैं और दूसरे में पात्रों को आरम्भ से अन्त तक गतिशील पाते हैं। ये दोनों प्रकार के उपन्यास न तो एक-दूसरे के विरोधी हैं और न तो एक-दूसरे के पूरक। ये वस्तुतः जीवन देखने की दो विशिष्ट वृत्तियाँ हैं। नाटकीय उपन्यास में वैयक्तिक आधार पर और चरित्रप्रधान उपन्यास में सामाजिक आधार पर जीवन को देखा जाता है। यह कहना कि कोई कथानक स्थानिक है, यह नहीं सूचित करता कि उसमें कालिक गति नहीं है और इसी प्रकार किसी कथानक को कालिक कहना यह स्वीकार करना नहीं है कि उसमें स्थानिक परिवेश नहीं है। इससे केवल यह सूचित होता है कि किसमें किसका प्राधान्य होता है। स्थानिक वैशेष्य के कथानक में प्रभावपूर्ण प्रसंग को विस्तृत करना मुख्य विषय होता है। इससे यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि ऐसा करने से स्थान उसका आयाम हो जाता है। काल-वैशेष्य के कथानक में मुख्य विषय विकास की खोज है और विकास काल की ओर संकेत करता है। दोनों प्रकार के कथानक की रचना उनके लक्ष्य से निश्चित की जाती है। एक में विविधता से पवित्र ढाँचा होता है और दूसरे में कार्य-कारण की शृंखला होती है।

वृत्तप्रधान उपन्यास (chronicle)—यह सर्वसाधारण बात है। कलाकृति में दो तत्त्व होते हैं : सार्वभौमिक और विशिष्ट। कलाकार विशिष्ट के द्वारा वर्णन करता है। सार्वभौमिक प्रत्यक्ष रूप में और खोज संवेदित ...

विशिष्ट के साथ ही उसे कलाकृति में स्थान मिल जाता है। गद्यात्मक गल्प में सार्वभौमिकता रहती है। काल और देश से अतीत रचना में ही सार्वभौमिकता के तत्त्व रहते हैं। महान् कलाकृतियों में समस्त तत्त्व विशिष्ट और सार्वभौमिक प्रकार के होते हैं। रूसी उपन्यास 'युद्ध और शांति' को वृत्तप्रधान उपन्यास कह सकते हैं। इसकी क्रिया अधिकतर आकस्मिक है, किन्तु सभी घटनाएँ पूर्णतः स्थिर ढाँचे में घटित होती हैं। *'युद्ध और शांति' का ढाँचा अशिथिल है और इसका विकास स्वच्छन्द है।* ये दोनों वृत्तप्रधान उपन्यास के लिए आवश्यक हैं। पहले के बिना यह आकारविहीन हो जाएगा और दूसरे के बिना निर्जीव। पहला इसे सार्वभौमिकता प्रदान करता है और दूसरा विशिष्ट यथार्थ प्रदान करता है। काल वृत्तप्रधान उपन्यास की मुख्य भूमि है। इस कारण कथानक के उक्त दोनों तत्त्व काल के अलग-अलग पक्ष हैं। उन्हें हम क्रमशः निरपेक्ष क्रिया-रूप में काल और आकस्मिक प्रकाशन-रूप में काल कह सकते हैं। 'युद्ध और शांति' की गति क्रिया की गंभीरता से निश्चित नहीं हो सकती, अपितु इसमें तो नीरस नियमितता है जो पात्रों से बाहर और पात्रों से अप्रभावित है। 'युद्ध और शांति' में परिवर्तन मुख्य रूप से सामान्य है और उसकी अपरिहार्यता सामान्यता में ही निहित है। यह क्रिया के साथ आंगिक नहीं है। कभी क्षिप्र है, कभी स्थिर है और कभी आवेग और भाव की गति के अनुकूल प्रतीत होता है। यह नियमित है, गणितीय है और एक अभिप्राय से अमानवीय और रूपहीन प्रतीत होता है। यह अपने निजी विकास के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों के प्रति उदासीन है। इसमें सब कुछ संभव है और सब कुछ होता है।

इस प्रकार के उपन्यास में पात्र का प्रकाशन समय के माध्यम से होता है। इसमें मानवीय क्रिया-कलाप से काल की गणना नहीं होती, भले ही मानवीय क्रिया-कलाप अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्यों न हों। यह अपरिवर्तित रहता है, यह अपनी गति में नियमित रहता है। इसमें हम मानवीय जीवन, विकास, ह्रास सब कुछ देखते हैं। एक ऐसी क्रिया देखते हैं, जिसकी निरन्तर आवृत्ति होती है। किन्तु इसमें जन्म, विकास और ह्रास की प्रक्रिया के भीतर ही जीवन के विविध प्रकाशन होते हैं। प्रकार के उपन्यास में भी नाटकीय उपन्यास के समान ही वैविध्य एकरूपता के विरुद्ध रखा जाता है, स्वतन्त्रता आवश्यकता के विरुद्ध रखी जाती है। यदि किसी एक पर ज्यादा जोर दिया जाए तो कहानी असत्य हो जाएगी और यदि किसी को छोड़ दिया जाए तो कहानी को कल्पनाप्रधान कृति नहीं कहा जा सकता। नाटकीय उपन्यास में काल आंतरिक होता है, इसकी गति पात्रों की गति होती है। परिवर्तन, नियति, चरित्र सभी एक क्रिया में संश्लिष्ट रूप में रहते हैं और क्रिया के प्रवाह में ऐसा ठहराव आता है, जिसमें समस्त अवरुद्ध प्रतीत होता है और रंगस्थल शून्य छोड़ दिया जाता है। वृत्तप्रधान उपन्यास में काल बाह्य होता है।

यह पात्रों के मस्तिष्क में वैयक्तिक और मानवीय रूप में पकड़ा नहीं जाता। यह बाहर से एक निश्चित कोण से देखा जाता है। यह दर्शक के पीछे प्रवाहित होता है और जिन पात्रों को जागरित करता है, उनके मध्य और उनके ऊपर प्रवाहित होता है। इसमें सापेक्षता अपरिहार्य रहती है। इसमें जीवन का बृहत्तर पक्ष होता है। इस कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह नाटकीय उपन्यास से अधिक वास्तविक होता है। उक्त तीनों प्रकार के उपन्यास जीवन-चित्रण की तीन वृत्तियाँ मात्र हैं। वृत्तप्रधान में जागतिक विकास समस्त विशिष्ट घटनाओं को कुछ भिन्न मूल्य प्रदान करता है। इस कारण दुःखद, करुणाजनक—अपरिहार्य, आकस्मिक, अंतिम और सापेक्ष हो जाता है और इसका सम्पादन स्वाभाविक और अपरिहार्य हो जाता है।

सामयिक उपन्यास—(Period novel)—सामयिक उपन्यास सार्वकालिक मानव-सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न नहीं करता। यह संक्रांति की अवस्था में समाज अथवा व्यक्तियों को दिशा देने मात्र से संतुष्ट हो जाता है। इसके पात्र वहीं तक वास्तविक रहते हैं, जहाँ तक ये समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह प्रत्येक वस्तु को विशिष्ट, सापेक्षिक और ऐतिहासिक बना देता है। यह जीवन को सार्वभौमिक कल्पना की दृष्टि से नहीं देखता, अपितु सिद्धांतोन्मुख बुद्धि से प्रेरित संकुचित और व्यस्त नेत्रों से देखता है।

ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास भी अन्य उपन्यासों के समान ही घटनाप्रधान, चरित्र-प्रधान या नाटकीय हो सकता है। अंतर केवल इतना होता है कि अन्य उपन्यासों में समसामयिक जीवन का चित्र होता है और सामयिक अथवा सार्वभौमिक समस्याएँ होती हैं, जबकि ऐतिहासिक उपन्यास अतीत जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है और उसमें कोई सार्वकालिक-सार्वभौमिक समस्या भी हो सकती है तथा ऐसी भी समस्या हो सकती है जो वर्तमान जीवन की समस्या से सर्वथा भिन्न हो। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास का अन्य उपन्यासों से भेदक तत्त्व है देश-काल और वातावरण का निर्माण। अन्य उपन्यासों में भी इस तत्त्व का विशेष महत्त्व होता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है; क्योंकि इसी आधार पर लेखक ऐतिहासिकता की प्रभाव-सृष्टि कर सकता है। तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का उसे पूरा-पूरा परिज्ञान होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र में किंचित् दौर्बल्य उसकी सारी प्रभाव-सृष्टि को धराशायी कर देगा।

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास-लेखक नहीं होता। तथ्यों का आकलन उसका लक्ष्य नहीं है। हमारे कथन का यह आशय नहीं है कि वह इतिहासकार नहीं हो सकता। वह इतिहासकार हो सकता है और उस रूप में तथ्यों का आकलन

भी कर सकता है। किन्तु उपन्यासकार के रूप में उसका दायित्व कुछ दूसरा हो जाता है। इतिहास और पुरातत्व के नीरस तथ्यों को उसे रसात्मक रूप में प्रस्तुत करना होता है। कल्पना के योग से उसे तत्कालीन जीवन का मार्मिक और जीवन्त चित्र प्रस्तुत करना होता है। उसका यह कर्तव्य गुरु-गम्भीर होता है। एक-एक पद उसे पूरी सतर्कता से रखना पड़ता है, कहीं किंचित् असावधानी हुई तो दूसरा सारा रचना-प्रासाद भड़भड़ा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक से सामान्य उपन्यास लेखक की अपेक्षा अधिक कुशलता अपेक्षित होती है। एक ओर सम्बन्धित इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों से उसका पूरा परिचय होना चाहिए और दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्य को कलात्मक रूप प्रदान करने की भरपूर क्षमता भी होनी चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास को इस प्रकार प्रतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि उसका प्रत्येक तथ्य विशेष प्रकार का प्रभाव निर्मित करता है। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं को इस रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिसमें सजीव जीवन-चित्र निर्मित हो सके। इस दृष्टि से इतिहास केन्द्रापगामी है और उपन्यास केन्द्राभिमुख—अर्थात् केन्द्रीय महत्त्व उपन्यास का है और इतिहास उसका सहगामी तत्त्व है, जिसका अपना महत्त्व है, किन्तु उपन्यास की तुलना में गौण। यदि इतिहास प्रधान हो जाएगा और उपन्यास गौण तो सारी रचना का प्रभाव विच्छिन्न हो जाएगा। इतिहास का सूत्र उपन्यास के इर्दगिर्द इस रूप में रहता है, जिससे उपन्यास के रूप की रचना होती है। इतिहास का अपना स्वाभाविक विकास होता है, जबकि उपन्यास का कथानक लेखक-निर्मित होने के कारण कृत्रिम होता है। इतिहास भी वर्णन-प्रधान होता है, परन्तु इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास में मौलिक अन्तर यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास का कथानक ऐतिहासिक घटनाओं पर आधृत होने के साथ ही लेखक की रचनात्मक कल्पना से रूप-रंग प्राप्त करता है। क्या ऐतिहासिक उपन्यासकार को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह ऐतिहासिक तथ्य को मनमानी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकता है? उपन्यासकार आवश्यकतानुसार तथ्यों को परिवर्तित कर सकता है, किन्तु उन्हें विकृत करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। परिवर्तन इस कारण स्वीकार किया जा सकता है कि इतिहास के तथ्य यदि पूर्णतः स्थापित नहीं हैं, तो उनमें परिवर्तन की गुंजाइश रहती है। बहुत सारा इतिहास अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है। अभिलेखों की व्याख्या और तथ्यों के आकलन में इतिहास लेखक का निजी दृष्टिकोण प्रधान रहता है। इस कारण इतिहास में वैयक्तिकता की छाप रहती है और इसी कारण उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार औचित्य को ध्यान में रखकर ऐतिहासिक तथ्यों में किंचित् परिवर्तन कर सकता है, परन्तु उन्हें विकृत करने का उसे कोई अधि-

भी अनुभव करेगा कि किसी पात्र के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य उसकी वर्तमान चेतना के प्रवाह के माध्यम से उसके अतीत के सूक्ष्म परीक्षण करने से ही बताया जा सकता है। जब व्यक्ति की चेतना पर अधिक बल दिया जाता है तो उसके साथ ही व्यक्ति के अकेलेपन के एहसास को अधिक तीव्र बना दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के बन्धन से बँधा हुआ है, उसका अपना माध्यम है जो उसको विगत अनुभूतियों से निर्मित होता है। वह दूसरे व्यक्तियों के सामने अपने जो विचार प्रस्तुत करेगा, उसे दूसरे अपने माध्यम के आधार पर ग्रहण करेंगे। अतः वह स्वयं जो कुछ कहना चाहेगा, उसे अन्य लोग उसी रूप में ग्रहण न कर सकेंगे। इस प्रकार सारा सामाजिक सम्बन्ध झूठा है। अतः अकेलापन मानव की आवश्यक स्थिति है। तथापि सम्प्रेषण की अभिलाषा मानव की मनोवृत्ति में अत्यन्त गहराई से विद्यमान है और अकेलेपन से मुक्ति पाने की अभिलाषा भी अत्यन्त बलवती होती है। इसी कारण वह अपने सीमित समाज में अपना व्यवहार करता है। जहाँ तक सामाजिक परम्पराओं का प्रश्न है, वे शून्य और यांत्रिक हैं और मनुष्य के आंतरिक जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इस स्थिति में विशाल समाज का प्रश्न ही नहीं उठता, केवल रुचि-भावना के अनुकूल छोटे समाज की कल्पना की जा सकती है, जो मैत्री भाव के आधार पर निर्मित हो सकता है। यह समाज भी कृत्रिम ही होता है। मानव अपनी भावनाओं और विचारों के सम्प्रेषण के अनन्तर और अधिक आकुलता तथा अकेलेपन का अनुभव करता है। आधुनिक युग में अकेलापन यथार्थ है और प्रेम आवश्यकता है, किन्तु दोनों को एक साथ किस प्रकार लाया जा सकता है। जब व्यक्ति अपनी विलक्षण और व्यक्तिगत चेतना से बँधा हुआ है तो ऐसे व्यक्तियों के संसार में प्रेम किस रूप में सम्भव है! आज के युग में समाज की पुरानी मान्यता भू-लुंठित हो चुकी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार के उपन्यास कुछ सीमा तक अहंवाद के ही मार्ग निर्मित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।[१]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास-रचना-प्रविधि में चेतना-प्रवाह का विशेष महत्त्व है, जिसे मे सिन्क्लेयर ने सबसे पहले १९१८ में डोरोथी रिचार्डसन के उपन्यासों की आलोचना करते समय प्रयुक्त किया था। मूलतः इसका प्रयोग विलियम जेम्स ने अपने 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' नामक ग्रंथ में किया है। विलियम जेम्स ने चेतना के प्रवाह की ओर संकेत किया है और वहीं से मे सिन्क्लेयर ने इसे गृहीत किया है। आगे चलकर चेतना-प्रवाह बहुप्रचलित शब्द बन गया और अनेक उपन्यासकारों के संदर्भ में इसका प्रयोग होने लगा। इस चेतना-प्रवाह के उपन्यासकार अपने पात्रों का सृजन इस रूप में करते

१. डेविड डेचेज : द नॉवेल एंड द मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ९-१०।

को अपनी रचनाओं में सफल अभिव्यक्ति दी है। अंग्रेजी साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास की परम्परा हेनरी जेम्स से आरम्भ होती है। तदनन्तर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई और अनेक भाषाओं के साहित्य में इस प्रकार के उपन्यास लिखे गए। हिन्दी में इलाचन्द जोशी, अज्ञेय आदि इसी परम्परा के उपन्यासकार हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में व्यक्ति के चेतन मस्तिष्क के साथ अचेतन मस्तिष्क को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। मस्तिष्क की चेतना के स्तर पर जो कुछ है, उससे बहुत अधिक अचेतन मस्तिष्क में है। व्यक्ति के जीवन में अचेतन मस्तिष्क का बहुत अधिक महत्त्व होता है। उसके बहुत सारे क्रिया-व्यापार, विचार-व्यवहार के निर्णायक तत्त्व हैं उसके अचेतन व्यापार, जिसे मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली से व्यक्त किया जाता है। फ्रायड ने पूरे मनोयोग से अचेतन मस्तिष्क की बहुत सारी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है, जिनका मनोविश्लेषण में बहुत बड़ा महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक मनोविश्लेषणात्मक प्रविधि का अधिक से अधिक उपयोग करते हैं।

आधुनिक उपन्यास पर बर्गसाँ के इस दार्शनिक विचार का भी प्रभाव पड़ा है कि सतत प्रवाह के रूप में काल का प्रत्यय है। इससे पूर्वकाल को अनेक प्रवाहों के क्रम के रूप में स्वीकार किया जाता था। विलियम जेम्स ने चेतना के सातत्य के रूप में अपना विचार किया था। इन दोनों विचार-धाराओं ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास को आत्यंतिक रूप में प्रभावित किया है। बर्गसाँ के इस काल-प्रत्यय ने प्राचीन प्रकार के कथानक के प्रति लेखकों के मन में संदेह उत्पन्न कर दिया। प्राचीन कथानक में पात्रों का विकास काल-क्रम के आधार पर दिखाया जाता था, किन्तु इस काल-प्रत्यय के आधार पर इस प्रकार के कथानक का विकास हुआ जो पूरी स्वतन्त्रता के साथ आगे भी आ सकता है और पीछे भी, और इस प्रकार काल-प्रवाह को पकड़ने का प्रयत्न करता है। सामान्यतः मानव की जानकारी में भी काल का ऐसा ही प्रवाह है। इसी विचार-धारा के साथ फ्रायड और युंग की चेतना-दृष्टि भी अत्यन्त निकटता से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से चेतना-बाहुल्य का महत्त्व तो है ही, साथ ही चेतना में मनुष्य की समस्त अनुभूतियों की उपस्थिति भी निहित है। इतना ही नहीं, वरन् मानव-जाति की समस्त अनुभूति की उपस्थिति भी निहित है। मनुष्य के जीवन में उसके अतीत की स्मृतियों का भी बहुत बड़ा महत्त्व होता है। अतः किसी पात्र की चारित्रिक विशेषता को समझने के लिए उसके वर्तमान को ही जानना अपेक्षित नहीं है, वरन् उसके भूत को भी जानना आवश्यक है। इस कारण जो उपन्यासकार काल के सतत प्रवाह के प्रत्यय और चेतना को स्वीकार करके चलता है, वह चेतना के विभिन्न स्तर के सौन्दर्य को संचित करना चाहेगा और इसके साथ ही वह नई

क्षणों में प्रस्तुत कर वह एक दिन की सीमित अवधि में अपने पात्र के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित कर सकता है।

यह प्रविधि पारम्परिक स्मृति-अप्रासंगिकता का ही विस्तार है। किन्तु जो लेखक घटना और घटना के प्रति पात्र की प्रतिक्रिया के विकास को परस्पर सम्बद्ध करके दिखाना चाहता है, वह चेतना के उस अंश का उपयोग कर सकता है। जहाँ अतीत वर्तमान को आगे धकेलता है और उसे अप्रासंगिक के रूप में अनुभूत करता है। यह नियम के अपवाद के रूप में रहता है, किन्तु यदि अधिक सीमा तक इसका उपयोग होता है तो यह कथा के प्रवाह को छिन्न-भिन्न कर देता है। चेतना-प्रवाह-प्रविधि में लेखक ऐसे सदर्भों और विषयान्तर को यथोचित और प्रामाणिक सिद्ध कर पाता है, क्योंकि उन्हीं के माध्यम से कहानी प्रस्तुत की जाती है और उसकी अन्विति पूरी होती है। मस्तिष्क की दशा का वर्णन करने की यह नवीन प्रणाली कहानी कहने की नवीन प्रविधि है। चेतना-प्रवाह की प्रविधि मात्र मस्तिष्क की दशाएँ वर्णित करने की प्रविधि नहीं है, क्योंकि इस प्रविधि में कथा-शिल्प और चरित्र-निर्माण का शिल्प भी आश्रित है। इसी कारण ज्वॉयस अपने उपन्यास 'यूलिसिस' में एक दिन की घटनाओं के आधार पर सर्वाधिक पूर्ण और गतिशील पात्र निर्मित कर सके हैं। इस प्रविधि में कथा की यौक्तिक प्रस्तुति की और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्तियाँ हैं। इस नवीन प्रविधि में मानसिक स्थितियों को वर्णित करने की अपूर्व क्षमता है।

इस प्रविधि के अपने लाभ हैं। इससे इस बात का बोध हो जाता है कि मानव के व्यक्तित्व का सतुलन अनिश्चित रहता है; मानव की मनःस्थिति स्थिर नहीं होती, वरन् वह अभिलाषा से स्मृति को मिश्रित करने वाली प्रवाहशील स्थिति है जो निरन्तर गतिशील बनी रहती है। चेतना-प्रवाह की प्रविधि अपनाकर चलने वाले लेखक यह बात स्वीकार कर सकते हैं कि पात्र का चित्रण उपन्यास लेखक के लिए सभव नहीं है, क्योंकि पात्र प्रक्रिया है, कोई स्थिति नहीं है और अपने परिवेश के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया कार्यावस्था में इस प्रक्रिया को दिखाने से ही प्रदर्शित की जा सकती है। मनुष्य का चरित्र परिवेश के प्रति उसकी सशक्त और वास्तविक प्रतिक्रियाएँ ही हैं। यदि चेतना-प्रवाह-प्रणाली पूरी सूक्ष्मता और तीव्रता से प्रयुक्त की जाए तो इसकी गंभीरता से उस लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है, जिसकी पूर्ति पारम्परिक प्रणाली के विस्तार से होती है। यह ऐसी प्रणाली है, जिससे पात्रों को स्थान और काल के परे चित्रित किया जा सकता है। यह चेतना को घटनाओं के कालिक क्रम से पृथक् कर देती है और यह अतीत के आसगों और सकेतों के माध्यम से मानसिक स्थिति को इस रूप में अन्वेषित करने का अवसर प्रदान करती है कि सम्पूर्ण को देखने से पहले हमें

उसे सशक्त और यथार्थ बनाने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं रहती।[1]

चेतना-प्रवाह-प्रविधि में पात्रों की मनःस्थिति और विचारों को दर्शाने के लिए अनेक प्रणालियाँ उपयोग में लाई जाती हैं, जिनमें पात्रों के पत्रों का विशेष महत्व है। पत्रों के माध्यम से उनकी विचार-भूमि और मनःस्थिति को व्यक्त किया जाता है, किन्तु इस प्रकार की प्रणाली में एक दोष है। पत्रों में सामान्यतः औपचारिकता निर्वाह होने के कारण मनःस्थिति का ठीक-ठीक अंकन नहीं हो पाता। इस कारण कुछ सीमा तक इसका प्रभाव निषेधात्मक होता है। अतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इस प्रणाली का कम से कम उपयोग करते हैं। डायरी पत्र की तुलना में अधिक उपयोगी प्रणाली सिद्ध हो सकती है। किन्तु लेखक को डायरी लेखक की किसी निश्चित परिस्थिति में अपनी मनःस्थिति और मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति की भावना को संप्रेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के निमित्त सर्वदा सावधान रहना होगा। दोनों प्रकार की प्रणालियाँ कुछ सीमा तक ही प्रयोग में लाई जा सकती हैं। यदि पत्र-लेखक और डायरी-लेखक पात्र स्पष्टवादी नहीं हैं तो उनके पत्रों और डायरी के माध्यम से उपन्यास लेखक उनकी मनःस्थिति और विचार-भूमि को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर सकता। इसके लिए उसे दूसरी प्रणाली को अपनाना पड़ेगा। अन्य प्रकार के उपन्यास लेखक के समान ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक को भी सर्वज्ञ की भूमिका अपनानी पड़ती है और इसी भूमिका को अपना कर वह अनेक साधन-स्रोतों का मंथन कर अपने पात्र की मानसिक स्थिति और विचारों की अभिव्यक्ति करता है। लेखक जो विशेष प्रकार की प्रणालियाँ अपनाकर चलता है, उनमें पूर्वदीप्ति का विशेष महत्व है। पूर्वदीप्ति प्रणाली में उपन्यासकार घटनाओं के क्रम की सीधी रेखा न खींचकर उन्हें पात्र की स्मृति-तरंगों के रूप में प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही मुक्त आसंग प्रणाली, मनोविश्लेषण, प्रत्यवलोकन-प्रणाली, स्वप्न-विश्लेषण, प्रतीकात्मक प्रणाली आदि का भी लेखक यथास्थान उपयोग करते हैं। मुक्त आसंग प्रणाली में लेखक पात्र को ऐसा अवसर प्रदान करता है कि वह अपने जीवन की पूर्व घटनाओं को उनके स्वाभाविक रूप में कहता जाता है। मनोविश्लेषण-प्रणाली में भी पात्र की ग्रंथियों को दूर करने के लिए पूर्व घटनाओं को स्मृति के धरातल पर अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है। कभी विगत जीवन की घटनाओं को मुड़ कर देखने की तीव्र इच्छा जागरित होती है। लेखक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर पात्र को पीछे मुड़ कर देखने के लिए विवश कर देता है और वह अपने विगत जीवन की घटनाओं को बिना किसी क्रम से अपनी स्मृति के धरातल पर उपस्थित करने लगता है। इस प्रणाली को प्रत्यवलोकन

1. रॉबर्ट हम्फ्रे—द नॉवेल एंड द मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ११-२४।

प्रणाली करते हैं। स्वप्न-विश्लेषण से मानसिक ग्रंथियों को खोजने का प्रयत्न होता है। किसी भावना या इच्छा को यदि पात्र साक्षात् सांकेतिक रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता तो उसे व्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। प्रतीकात्मक प्रणाली में इसी रूप में वर्णन मिलता है। उक्त समस्त प्रणालियों के मूल में पात्र की स्मृति, विशेष परिस्थितियों का प्रसंग और उसका अचेतन मस्तिष्क है, जिन्हें पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए लेखक अनेक साधनों का उपयोग करता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। इसमें कथा-वस्तु सुसंगठित नहीं होती। इसमें सामान्यतः काल और स्थान का आयाम शिथिल पड़ जाता है। इस प्रकार के उपन्यास की कथा में विस्तार न होकर गंभीरता होती है। एक दिन के कथानक की ही योजना ऐसी हो सकती है, जिसमें पात्र के चरित्र का पूर्ण और गत्यात्मक स्वरूप परिलक्षित होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में पात्रों का बाहुल्य नहीं होता। कम से कम पात्रों की योजना की जाती है, जिससे उनके चारित्रिक महत्त्व के उद्घाटन का अधिक से अधिक अवसर लेखक को प्राप्त होता है। इस प्रकार के उपन्यास में लेखक का ध्यान वस्तु-जगत् की ओर न होकर अन्तर्जगत् की ओर होता है और वह वैयक्तिक अनुभूति के प्रकाशन का ही यत्न करता है। चेतना-प्रवाह-प्रविधि को अपनाकर वह अपने पात्रों के अन्तर्जगत् का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

उसे सशक्त और यथार्थ बनाने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं रहती।[1]

चेतना-प्रवाह-प्रविधि में पात्रों की मनःस्थिति और विचारों को दर्शाने के लिए अनेक प्रणालियाँ उपयोग में लाई जाती हैं, जिनमें पात्रों के पत्रों का विशेष महत्व है। पत्रों के माध्यम से उनकी विचार-भूमि और मनःस्थिति को व्यक्त किया जाता है, किन्तु इस प्रकार की प्रणाली में एक दोष है। पत्रों में सामान्यतः औपचारिकता निर्वाह होने के कारण मनःस्थिति का ठीक-ठीक अंकन नहीं हो पाता। इस कारण कुछ सीमा तक इसका प्रभाव निषेधात्मक होता है। अतः आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार इस प्रणाली का कम से कम उपयोग करते हैं। डायरी पत्र की तुलना में अधिक उपयोगी प्रणाली सिद्ध हो सकती है। किन्तु लेखक को डायरी लेखक की किसी निश्चित परिस्थिति में अपनी मनःस्थिति और मानसिक अवस्था की अभिव्यक्ति की भावना को संप्रत्ययात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के निमित्त सर्वदा सावधान रहना होगा। दोनों प्रकार की प्रणालियाँ कुछ सीमा तक ही प्रयोग में लाई जा सकती हैं। यदि पत्र-लेखक और डायरी-लेखक पात्र स्पष्टवादी नहीं हैं तो उनके पत्रों और डायरी के माध्यम से उपन्यास लेखक उनकी मनःस्थिति और विचार-भूमि को अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर सकता। इसके लिए उसे दूसरी प्रणाली को अपनाना पड़ेगा। अन्य प्रकार के उपन्यास लेखक के समान ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक को भी सर्वज्ञ की भूमिका अपनानी पड़ती है और इसी भूमिका को अपना कर वह अनेक साधन-स्रोतों का मंथन कर अपने पात्र की मानसिक स्थिति और विचारों की अभिव्यक्ति करता है। लेखक जो विशेष प्रकार की प्रणालियाँ अपनाकर चलता है, उनमें पूर्वदीप्ति का विशेष महत्व है। पूर्वदीप्ति प्रणाली में उपन्यासकार घटनाओं के क्रम की सीधी रेखा न खींचकर उन्हें पात्र की स्मृति-तरंगों के रूप में प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही मुक्त आसंग प्रणाली, मनोविश्लेषण, प्रत्यवलोकन-प्रणाली, स्वप्न-विश्लेषण, प्रतीकात्मक प्रणाली आदि का भी लेखक यथास्थान उपयोग करते हैं। मुक्त आसंग प्रणाली में लेखक पात्र को ऐसा अवसर प्रदान करता है कि वह अपने जीवन की पूर्व घटनाओं को उनके स्वाभाविक रूप में कहता जाता है। मनोविश्लेषण-प्रणाली में भी पात्र की ग्रन्थियों को दूर करने के लिए पूर्व घटनाओं को स्मृति के धरातल पर अंकित करने का प्रयत्न किया जाता है। कभी विगत जीवन की घटनाओं को मुड़ कर देखने की तीव्र इच्छा जागरित होती है। लेखक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर पात्र को पीछे मुड़ कर देखने के लिए विवश कर देता है और वह अपने विगत जीवन की घटनाओं को बिना किसी क्रम के अपनी स्मृति के धरातल पर उपस्थित करने लगता है। इस प्रणाली को प्रत्यवलोकन

1. डेविड डेचेस—द नॉवेल एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ ११-२४।

चिरन्तन सत्य और मानवमूल्य को लेकर चलेंगे, वे किसी न किसी रूप में आदर्शवादी ही होंगे।

आदर्शवाद जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है। इसमें कोई सदेह नहीं कि जीवन में चतुर्दिक् दुःख है, विषाद है और रुग्णता है, किन्तु इसके साथ ही जीवन का दूसरा पक्ष भी है; दुःख-विषाद का अंत भी है, रुग्णता का उपचार भी है। यदि मनुष्य अपने जीवन को सतुलित रखने का प्रयत्न करे और भौतिकता से ऊपर उठने का प्रयत्न करे तो उसे सुख-शांति प्राप्त हो सकती है और वह आत्म-विश्रांति की अनुभूति भी कर सकता है। इसीलिए आदर्शवाद ऐसे साहित्य को स्वीकार करता है जो रुग्णता, दुःख और निराशा को अपना उपजीव्य न बनाकर स्वस्थता, सुख और आशा को अपना उपजीव्य बनाता है, जो कल्पना के माध्यम से ऐसे भविष्य का निर्माण करता है जो भावात्मक, मंगलदायक और आशाजनक होता है। आदर्शवादी साहित्य-कार दुःखांत की तुलना में सुखांत रचना को अधिक पसंद करता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में अधिकांश नाटक सुखांत ही हैं जो प्राचीन लेखकों की "आदर्शवादिता के परिचायक हैं। आदर्श के सम्बन्ध में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का मत है आदर्शवाद अनेकता में एकता देखने का प्रयत्न करता है, वह विशृंखलता में शृंखला, निराशा में आशा, दुःख में सुख-समाधान का प्रतिष्ठा करने का उद्देश्य रखता है।[1]

आदर्श के भावात्मक पक्ष पर जोर देने वाले साहित्यकार चिरन्तन सत्य और शाश्वत मानव-मूल्यों के प्रकाशन को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। वे जीवन के भौतिक यथार्थ को विशेष महत्त्व न देकर जीवन की सम्भावनाओं को विशेष महत्त्व देते हैं। जीवन के यथार्थ स्वरूप से घबरा कर उसे अभावात्मक रूप में नहीं ग्रहण कर वरन् उसी के मध्य उन्हें आशा की सुनहली किरण भी दिखाई पड़ती है। 'जो क्या है' यह उनके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रत्युत 'जीवन कैसा होना चाहि उनकी दृष्टि में यह रहता है। वे कल्पना का आँचल पकड़ ऐसे विश्व का नि करते हैं जो सर्वथा स्पृहणीय और सग्राह्य प्रतीत हो। कल्पना की अतिशयता के ही उन पर यथार्थवादी का आक्षेप है—'They are riding on horsebac over vacuum.' अर्थात् उनका सारा निर्माण कल्पनाश्रित है, यथार्थ को उसमें कोई गंध नहीं है।

आदर्शवाद मानव के भविष्य में आस्था रखता है। उसके लिए मानव का भविष्य कुज्झटिकापूर्ण नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत वह अत्यन्त उज्ज्वल है। इसी प्रकार वह जीवन की विकृतियों को केवल सामाजिक रोग के रूप में स्वीकार करता है, जब

---

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ३६३।

आदर्श और यथार्थ

आदर्शवाद जीवन के प्रति एक प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायता से जीवन और जगत् का मूल्यांकन किया जाता है। आदर्शवाद भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक महत्त्व देता है। इसमें जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों को स्वीकार किया जाता है। आस-पास के भौतिक जगत् के परे वह किसी चेतन सत्ता को विशेष महत्त्व प्रदान करता है जो दृश्यमान जगत् का स्रष्टा है। समस्त आदर्शवादी दार्शनिक किसी न किसी रूप मे उस चेतन सत्ता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। साहित्य मे आदर्शवाद जीवन के आंतरिक पक्ष की महत्ता को स्वीकार कर चलता है। आंतरिक पक्ष मे मानवीय भाव, सुख, दुःख आनन्द, विषाद की परिगणना होती है, जब कि बाह्य पक्ष ऐश्वर्य, वैभव आदि का द्योतक है। आदर्शवाद जीवन के बाह्य पक्ष की अपेक्षा जीवन के आंतरिक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है। इसके अनुसार मानव वास्तविक आनन्द की प्राप्ति भौतिक ऐश्वर्य से नहीं कर सकता, उसके लिए आंतरिक सुख अनिवार्य है। आंतरिक सुख की ओर झुकाव होने के कारण यह जीवन के उन मूल्यों को स्वीकार करता है जो श्रेयविधायी, मंगलआधायक और सर्जनात्मक होते हैं। आदर्शवाद के आधार पर जिस साहित्य की सर्जना होती है, उसमे सत् पक्ष की स्थापना और असत् का खंडन होता है। आदर्शवाद आशावादी है। इस कारण आदर्शवादी साहित्यकार पाप पर पुण्य की, अधर्म पर धर्म की, अन्याय पर न्याय की, दुराचार पर सदाचार की विजय दिखाना ही अभीष्ट समझता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में, रामायण-महाभारत में इसी आदर्श की स्थापना आदर्शवादी यह कभी नहीं चाहेगा कि अन्यायी अपने अन्याय के फ और पुण्यात्मा अपने पुण्य-फल से वंचित रह जाए, क्योंकि ऐसा ह व्यवस्था ही विशृंखलित हो जाएगी और चेतन सत्ता से सब का वि आदर्शवाद चिरन्तन सत्य और मानव-मूल्यों पर आधृत होता है।

ही संपूर्ण का द्योतक है। कला यहीं सत्य सिद्ध होती है, जबकि वह किसी प्रकार से विज्ञान विशेष में परिबद्ध न होकर एक साथ में सभी रूपों और विचारों को अपनाकर चलती है। कला और विज्ञानवादिता दोनों एक दूसरे से बहुत अधिक दूर होते हैं। प्रत्येक कलाकार को पुनः कलाकार होना चाहिए। मार्क्सवादी कलाकार के लिए भी वह शिल्प इसी रूप में प्रयुक्त होता है। कला का रूप और कला का वर्ण्य विषय दोनों एक ही होते हैं। यद्यपि महत्व वर्ण्य विषय का होता है, किन्तु रूप का प्रभाव वर्ण्य विषय पर भी पड़ता है। मार्क्सवाद को लेखक केवल फैशन के रूप में नहीं अपना सकता। वह उसकी जीवन-दृष्टि होनी चाहिए, यथार्थ का निकष होना चाहिए। इसके माध्यम से वह उस गंभीर ज्ञान को रूपाकार प्रदान करता है और अनुशासित कर सकता है, जिसकी अभिव्यक्ति अनिवार्य होती है। मार्क्सवाद निस्संदेह लेखक की यथार्थ वस्तु को जानने और निरीक्षित करने की प्रणाली होनी चाहिए। समस्त रूपों और विचारों को अविचारित रूप में अपनाकर चलना कला-धर्म नहीं कहा जा सकता। कला ग्रहण और त्याग को ही अपनाकर चल सकती है। कलाकार का सम्बन्ध केवल सत्य से होना चाहिए। लेनिन के अनुसार सत्य यथार्थ के प्रत्यक्ष स्वरूप के समस्त पक्षों की पूर्णता और उनके पारस्परिक सम्बन्ध से निर्मित होता है। विषय-वस्तु के विचार तक पहुँचने के लिए ज्ञान शाश्वत और निरंतर साधन है। मनुष्य के विचार मे प्रकृति की अभिव्यक्ति मृत और सूक्ष्म रूप मे बिना गति के और विरोध के बिना नहीं समझी जानी चाहिए, अपितु गति की शाश्वत प्रक्रिया, विरोधों के उदय और उनके समाधान मे समझी जानी चाहिए। वह कला जो इस प्रकार के दर्शन को स्वीकार करती है, वह निश्चय ही समस्त रूपों और विचारों को जानकर किसी निर्णय पर पहुँच सकती है। इस प्रकार की कला मानव-कला है और इसी कारण मार्क्सवादी लेखक साधिकार यह कहता है कि समाजवादी कला, नव यथार्थवाद, आज के युग मे सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता को अपना कर चलता है जो रचनाकार को यथार्थ के तीव्र संघर्ष मे सफल बनाता है।[1] उपन्यास ही एक ऐसा साधन है जो मानव का पूर्णतर चित्र प्रस्तुत कर सकता है, जो मानव के आन्तरिक जीवन को भी उसकी सक्रियता मे प्रदर्शित कर सकता है। मार्क्स ने मनोविश्लेषण के व्यक्तिपरक सिद्धान्त का खंडन किया है। मनुष्य के विचारों और परिवर्तनों की प्रक्रिया को वैयक्तिक कारणों के आधार पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसका वस्तुपरक कारण भी अनिवार्य होता है।

यथार्थवाद मे वस्तुओं का सच्चा विवरण तो आवश्यक होता ही है। इसके साथ ही सर्वसामान्य परिस्थिति मे प्रतिनिधि पात्रों की निर्मिति भी आवश्यक होती है।

---

१. राल्फ फॉक्स : द नॉवेल एंड द पीपल।

कि जीवन का संस्कार-परिष्कार ही उसका लक्ष्य है। वह मानव मनोवृत्तियों के औदात्य और विकास मे विश्वास रखता है। संसार के अधिकांश महान् साहित्यकार आदर्शवादी ही हुए हैं, क्योंकि उनकी सर्जना शाश्वत मूल्यों और चिरन्तन सत्य को दृष्टि में रखकर मानव की आकांक्षाओं और संभावनाओं पर आश्रित रही है। उन्होंने सामान्यतः लोक-मंगल-विधायक तत्वों को ही अपनी सर्जना का विषय बनाया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, होमर, वर्जिल, तुलसीदास, शेक्सपियर आदि आदर्शवादी कवि हो चुके हैं। आदर्शवाद मूलतः कविता का विषय रहा है और कविता मे इसकी अभिव्यक्ति का यथेष्ट अवसर भी रहा है। आदर्शवादी रचना मे कल्पना और भावुकता का आतिशय्य देखा जाता है और इस प्रकार की शैली कविता के लिए अधिक उपयुक्त होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गद्य मे आदर्शवाद की गुंजाइश नहीं होती। गद्य में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई हैं, क्योंकि गद्य-काव्य या पद्य-काव्य लेखक-विशेष के दृष्टिकोण का वाहक-मात्र होता है। यदि लेखक आदर्शवादी है तो गद्य मे भी उसकी विचार-धारा का सहज प्रवाह देखा जा सकता है। तॉलस्तॉय और प्रेमचंद इसी प्रकार के लेखक रहे हैं। किन्तु गद्य के आविर्भाव ने लेखकों के सामने एक ऐसी भूमि प्रस्तुत की जो आदर्शवाद की विरोधिनी है, जो *'क्या होना चाहिए'* के स्थान पर *'क्या है'* पर ज्यादा ज़ोर देती है। इस प्रवृत्ति को यथार्थवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। साहित्य में यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप मे चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के माध्यम से अनुरंजित रूप प्रदान करना और न तो किसी पूर्व ग्रह से उसे दूषित बनाना। वस्तुतः यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् से है। मानव-जीवन अपने स्वाभाविक रूप मे दुर्बलताओं और सबलताओं का पुंज है। जीवन का वही रूप यथार्थ है, जिसमे जीवन के दोनों पक्षों को किसी प्रकार के पूर्वग्रह के बिना प्रस्तुत किया जाता है। भौतिक जगत् या वस्तु-जगत् ही यथार्थ नहीं है, भाव-जगत् भी उतना ही यथार्थ है। मानव के सुख, दुःख, आशा, आकांक्षा को भी उसके जीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यथार्थ-चित्रण में वस्तु-जगत् के साथ ही भाव-जगत् का भी समावेश चित्रण को अधिक प्रभावशाली सिद्ध करता है।

कला एक ऐसा साधन है जिससे मनुष्य यथार्थ को पकड़ने और ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी चेतना की ज्वाला मे यथार्थ को तपाकर नवीन रूप प्रदान करता है। सारी रचना-प्रक्रिया और कलाकार की सारी वेदना जगत् का वास्तविक चित्र निर्मित करने के प्रयत्न मे यथार्थ के साथ इस तीव्र संघर्ष में निहित है। महान् कलाकार अपनी राजनीतिक विचार-धारा के बावजूद यथार्थ के साथ तीव्र और क्रान्तिकारी संघर्ष करते हैं, उसका संघर्ष क्रान्तिकारी इस कारण कहा जाता है, क्योंकि यथार्थ को परिवर्तित करने की वह चेष्टा करता है। उनके लिए सारा जीवन

माध्यम से वह उस गंभीर ज्ञान को आकार प्रदान करता है और अनुमानित कर सकता है, जिसकी अभिव्यक्ति अनिवार्य होती है। मार्क्सवाद निस्संदेह लेखक की यथार्थ जगत् को जानने और निरीक्षित करने की प्रणाली होनी चाहिए। समस्त रूपों और विश्वासों को अविचारित रूप में अपनाकर चलना कला-धर्म नहीं कहा जा सकता। कला ग्रहण और त्याग को ही अपनाकर चल सकती है। कलाकार का सम्बन्ध केवल सत्य से होना चाहिए। लेनिन के अनुसार सत्य यथार्थ के प्रत्यक्ष स्वरूप के समस्त पक्षों की पूर्णता और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में निहित होता है। विषय-वस्तु के विचार तक पहुँचने के लिए शाश्वत और निरंतर साधन है। मनुष्य के विचार में प्रकृति की अभिव्यक्ति मृत और सूक्ष्म रूप में बिना गति के और विरोध के बिना नहीं समझी जानी चाहिए, अपितु गति की शाश्वत प्रक्रिया, विरोधों के उदय और उनके समाधान में समझी जानी चाहिए। वह कला जो इस प्रकार के दर्शन को स्वीकार करता है, वह निश्चय ही समस्त रूपों और विश्वासों को जानकर किसी निर्णय पर पहुँच सकती है। इस प्रकार की कला मानव-कला है और इसी कारण मार्क्सवादी लेखक साधिकार यह कहता है कि समाजवादी कला, नव यथार्थवाद, आज के युग में सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता को अपना कर चलता है जो रचनाकार को यथार्थ के तीव्र संघर्ष में सफल बनाता है।[1] उपन्यास ही एक ऐसा साधन है जो मानव का पूर्णतर चित्र प्रस्तुत कर सकता है, जो मानव के आन्तरिक जीवन को भी उसकी सक्रियता में प्रदर्शित कर सकता है। मार्क्स ने मनोविश्लेषण के व्यक्तिपरक सिद्धान्त का खंडन किया है। मनुष्य के विचारों और परिवर्तनों की प्रक्रिया को वैयक्तिक कारणों के आधार पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसका वस्तुपरक कारण भी अनिवार्य होता है।

यथार्थवाद में वस्तुओं का सच्चा विवरण तो आवश्यक होना ही है। इसके साथ ही सर्वसामान्य परिस्थिति में प्रतिनिधि पात्रों की निर्मिति भी आवश्यक होती है।

---

१. राल्फ फॉक्स : द नॉवेल एंड द पीपल।

यथार्थवाद मूलतः जीवन के यथातथ्य चित्रण को महत्व प्रदान करता है, जिसे हम फोटोग्राफिक चित्रण भी कह सकते हैं, जिसमें जीवन के सत्-असत् दोनों पक्ष आ जाते हैं, किन्तु सामान्यतः यह देखा जाता है कि यथार्थ के नाम पर जीवन के कुत्सित-घृणित पक्ष को अधिक उभारा जाता है। यथार्थवाद आदर्शवादका विरोधी होने के कारण कल्पनातिशय्य को स्वीकार नहीं करता, किन्तु यथार्थ के नाम पर उससे यह आशा की जा सकती है कि जीवन की दुर्बलताओं-सबलताओं का चित्रण करते हुए वह स्वस्थ और सुन्दर के निर्माण में योग दे सकता है, किन्तु उसके विकसित स्वरूप को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उसने आशा के विपरीत काम किया है और समाज के विकृत रूप को ही चित्रित किया है।

मार्क्सवाद वर्तमान युग में वैज्ञानिक यथार्थवाद नाम से अभिहित होता है। मार्क्सवादी साहित्य कल्पना और आदर्श को न अपनाकर ठोस यथार्थ को अपनाकर चलता है। मार्क्सवादी साहित्य का सम्बन्ध ऐतिहासिक विकास से मानते हैं जो एक यथार्थ वस्तु है। मार्क्सवाद और पूँजीवाद के यथार्थ में अंतर होता है। पूँजीवादी यथार्थ सीमित और रूढ़िवादी है, जबकि मार्क्सवादी यथार्थ असीम और विकासशील। मार्क्सवादी जिस यथार्थ का चित्रण करता है, वह दलगत राजनीति अथवा उसकी राजनीतिक दृष्टि पर निर्भर न होकर उसके अपने दृष्टिकोण और निरीक्षण-शक्ति पर निर्भर करता है। यथार्थवादी साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मार्क्सवाद में उसका विश्वास हो ही। मार्क्सवाद से प्रभावित हुए बिना भी वह यथार्थ का सफल चित्रण कर सकता है।

कुछ लोग प्रकृतिवाद को यथार्थवाद का ही रूप समझते हैं। प्रकृतिवाद मनुष्य को प्रकृति के धरातल पर प्रस्तुत कर अन्य प्राणियों के समकक्ष लाकर रख देता है। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम, क्रोध आदि विकारों से ही भरा हुआ समझता है और उसकी इन्हीं विकारों को प्रकट करने वाली वृत्तियों का खुल कर वर्णन करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इसी रूप में मनुष्य को नहीं स्वीकार करता, किन्तु वह मनुष्य की भावनाओं और विचारों का अंकन करते-करते कभी-कभी प्रकृतिवादी धरातल को अपना लेता है। प्रकृतिवाद मानवतावाद का विरोधी होता है, जबकि यथार्थवाद समग्र रूप में मानवतावाद का विरोधी नहीं है। कहीं-कहीं वह उसके विरोध में चला जाता है।

यथार्थवाद तभी अपनी सही भूमिका अपना सकता है, जबकि वह यथातथ्य चित्रण में स्वस्थ-अस्वस्थ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को अपनाकर चलेगा। अस्वस्थ पक्ष को प्रस्तुत करते समय लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि अस्वस्थ पक्ष के लिए ही उसका चित्रण न हो, प्रत्युत उसके पीछे कोई सामाजिक रचनात्मक प्रवृत्ति हो।

अन्तश्चेतनावादी भी अपने को यथार्थवादी कहते हैं। अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति के अन्तर्मुखी यथार्थ को व्यक्तित्व का केन्द्र रूप स्वीकार करता है और उसी के आधार पर व्यक्तित्व का मूल्यांकन करता है। किन्तु एक बात यह स्वीकार्य है कि व्यक्ति का परिवेश उसकी मनोवृत्ति के निर्माण में अपना विशेष महत्व रखता है। अतः व्यक्ति के आन्तरिक यथार्थ का अंकन उसे परिवेश से पृथक् करके नहीं किया जा सकता। यथार्थवादी लेखक यदि स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाकर चलता है तो व्यक्ति को समाज-सापेक्ष स्थिति में देखता है और इस प्रकार उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों का चित्रण करता है। बाह्य परिवेश पर अधिक बल न देने के कारण अन्तश्चेतनावाद एकांगी सिद्ध हो जाता है और यथार्थवाद यदि वस्तुजगत् को ही ग्रहण करता है और भाव-जगत को तिरस्कृत करता है तो वह भी एकांगी सिद्ध हो जाता है।

आदर्शवादी साहित्यकार भाषा-प्रयोग में अधिक सतर्क रहते हैं। वे भाषा के सौंदर्य-निर्माण को अधिक महत्व देते हैं और उनकी भाषा में भावुकता अधिक होती है। यथार्थवादी अर्थ की ओर अधिक सावधान रहता है। वह शब्दों को नवीन अर्थवत्ता प्रदान कर उसके व्यंजक तत्त्व को बढ़ाता है तथा उसकी शैली में विनोद, तर्क, व्यंग्य और बौद्धिकता की प्रधानता रहती है। यथार्थवादी सामान्य रूप में जन-भाषा को अपना कर चलते हैं और सामान्य व्यवहार के शब्दों को साहित्य में प्रतिष्ठित करते हैं। लोक-जीवन के विभिन्न पक्षों को वे यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं।

अंतश्चेतनावादी मनोवैज्ञानिक प्रणाली को अपनाकर चलने के कार
सवेतात्मक और प्रतीकात्मक शैली अपनाकर चलते हैं। उनकी भाषा में किं
गूढ़ता रहती है। विषय-प्रतिपादन भी सामान्य जीवन से कुछ हट कर होने के
भिन्न प्रकार का होता है। अन्तश्चेतनावादियों की शैली सामान्य पाठक के लिए दु
होती है।

जीवन का दृष्टिकोण समझते हैं । वह जीवन में ही अपने नायक [illegible] को बुलाता है । इस, ऐसे जीवन के प्रति होना चाहिए, और यदि वह ऐसा नहीं हुआ तो वह उपन्यास नहीं सिद्ध हो सकेगा । कविता और नाटक में इतर जीवन के प्रति अपनी [illegible] किया लेखक की भावना को प्रोत्साहित कर सकते हैं और गंभीर भी बना सकते हैं, किन्तु उपन्यास में जीवन के प्रति उसकी [illegible] अनिवार्य होगी है । वर्जिनिया वुल्फ इस प्रकार के दृष्टिकोण को कलात्मक मानती हैं, किन्तु अन्य कला-रूपों की आलोचना में ही इस प्रकार की कलात्मक प्रवृत्ति विलक्षण प्रतीत होती है और उपन्यास की आलोचना में ऐसा कुछ नहीं होता । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास ने अपनी विकास की अवस्था में सहस्रों लोगों की भावनाएँ उद्रिक्त की हैं, परन्तु इस सन्दर्भ में कला को घसीटना कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है । कला के क्षेत्र में संगीत, चित्रकला और कविता आ सकती है और उनकी आलोचना कलात्मक सिद्धांतों के आधार पर हो सकती है, पर उपन्यास कलात्मक सिद्धांत के घेरे में नहीं आता । उपन्यास के पात्र, नीति, विषय-वस्तु आदि की चर्चा की जा सकती है, किन्तु उसकी रचना-प्रक्रिया परीक्षित-निरीक्षित नहीं होती । सम्प्रति ऐसा कोई आलोचक जीवित नहीं है जो उपन्यास को कला-कृति के रूप में स्वीकार करे और उसी रूप में उसकी आलोचना करे ।

वर्जिनिया वुल्फ के अनुसार इंगलैंड में लोग उपन्यास को कला-कृति के रूप में नहीं ग्रहण करते, जबकि फ्रांस और रूस में उपन्यासकार रचना को गंभीरता से ग्रहण करता है । फ्लाबेयर ने गोभी का वर्णन करने के लिए मुहावरे की खोज में एक मास व्यतीत कर दिया । तॉलस्तॉय ने 'युद्ध और शांति' को सात बार लिखा । उन्होंने अपनी रचनाओं को लिखने में जो इतना कष्ट उठाया, इसके कारण भी उनकी रचनाओं में वैशिष्ट्य है और वैशिष्ट्य का एक कारण यह भी हो सकता है कि आलोचक इन रचनाओं की आलोचना बड़ी कठोरता से करते हैं । यदि इंगलिश-लेखक और आलोचक उसी गंभीरता, श्रम और कठोरता से औपन्यासिक कृतियों को करें तो उपन्यास को कला कृति कहा जा सकता है ।[1]

हमें यह स्वीकार कर चलना चाहिए कि उस सभी प्रकार के साहित्य का अस्तित्व है, जिसे लेखक बौद्धिक और कल्पनात्मक प्रयास से लिखने के लिए प्रतिबद्ध होता है । सभी प्रकार के साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार की अतिव्याप्ति होती है और एक दूसरे का स्पर्श करने लगता है । इतिहास, दर्शन आदि के तथ्यों के आकलन और व्यवस्थापन में कला का स्पर्श पाया जाता है । जब सर्वसाधारण साहित्य में कलात्मकता

---

१ कलेक्टेड ऐसेज, भाग २, वर्जिनिया वुल्फ, पृ० ५४—५५ ।

और उपदेशात्मकता की अतिव्याप्ति देखी जाती है तो ऐसा कौन-सा आधार निर्मित किया जा सकता है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि कोई रचना-शुद्धतः कला-कृति है और कोई रचना कला-कृति नहीं है। किन्तु लेखक किस उद्देश्य-विशेष से परिचालित होकर रचना करता है, यही इसका निर्णायक तत्व है। जो लेखक किसी सत्य को अभिलिखित या स्थापित करना चाहता है, किसी उद्देश्य को सिद्ध करना चाहता है या अपने पाठक को क्रिया-सम्पादन का प्रोत्तेजन देना चाहता है, उसका मुख्य लक्ष्य शैक्षिक होता है, कला उसके लिए गौण होती है। किन्तु कलाकार अपने विषय के चिन्तन से जनित आनन्द के अतिरिक्त उसका कोई लक्ष्य नहीं रखता। कलाकार कला को छोड़कर अन्य क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता। वह अपने ही क्षेत्र मे आनन्द का अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को अपनी कल्पनात्मक शैली में प्रयुक्त कर सकता है। प्रत्यक्ष उपदेशात्मक प्रणाली को अपनाने की उसे कोई आवश्यकता नही रहती। ऐसी स्थिति में उपन्यास को कला-कृति माना जाए या नही ? उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है और उसमे कोई भी तथा प्रत्येक वस्तु सन्निविष्ट हो जाती है। उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं है। उपन्यास के लिए सिद्धांत और व्यवस्था का कोई प्रश्न नही उठाया जा सकता और यदि ऐसा कोई प्रश्न उठाया जाए तो उसके पुनः परीक्षण की गुंजाइश होनी चाहिए। उपन्यासकार कुछ भी कहने और लिखने के लिए स्वतंत्र रहता है। वह किसी सिद्धान्त, दर्शन को उपन्यास के माध्यम से अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है और रचना-प्रक्रिया के किसी नियम का पालन करने के लिए बाध्य भी नही होता। उपन्यास-रचना-विधान मे ऐसी नमनीयता है कि कोई लेखक किसी भी प्रणाली से कुछ लिखकर उसे उपन्यास की संज्ञा से अभिहित कर सकता है। इस कारण यदि आलोचक उपन्यास के सदर्भ मे कला की बात करता है तो उपन्यासकार नाक-भौंह सिकोड़ने लगता है। प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार भी उपन्यास को कला के रूप मे स्वीकार करने के लिए तत्पर नही प्रतीत होते। वर्जिनिया वुल्फ़ जो स्वयं उपन्यास को ललित कला की अग्रगण्य निदर्शन रही हैं, उपन्यास को कला-कृति के रूप मे स्वीकार नही कर पाती। इस अध्याय के आरंभ में ही हम उनके सम्बन्ध में कह आए हैं। वर्जिनिया वुल्फ़ स्वयं एक प्रतिभासम्पन्न उपन्यासकार रही हैं और उन्होंने अपने उपन्यासो मे शिल्प-विधि और कला-कौशल की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः उनका यह कथन कि उपन्यास कला-कृति के रूप में परिगणित नहीं हो सकता, बहुत ही भ्रामक प्रतीत होता है। वर्जिनिया वुल्फ ने ऐसा कहा है कि कोई भी जीवित आलोचक ऐसा नहीं है जो उपन्यास को कला-कृति कह सके और उस रूप में उसका मूल्यांकन करे। किन्तु स्वयं वुल्फ़ ही एक ऐसी उपन्यासकार हैं, जिन्होंने कला को लक्ष्य मानकर अपने उपन्यासों की रचना की है।

कोर्ट्स उपन्यास को कला-कृति रूप में ही स्वीकार करते हैं। वाल्टर रेले ने भी उपन्यास की स्थिति कला को स्वीकार किया है और इसकी कलात्मक संरचना के निरूपण की ओर संकेत किया है। इसी स्यूवक के अनुसार उपन्यास कला ही है, क्योंकि जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति सामान्य रूप में असम्भव है। इस कारण उपन्यास के लिए भी कला के नियम प्रयुक्त होते हैं।

उपन्यास कला है, क्योंकि वह ऐसी वस्तु को प्रदर्शित करता है, जिसे उपन्यासकार जीवन के सदृश समझता है अथवा जिसे वह जीवन का सत्य समझता है। वह इन तत्वों को प्रभावशाली बाह्य आकार में सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करता है। वह ऐसा इसलिए करता है जिससे पाठक वह देख सकें, जिसे उसने देखा है और उससे आनन्द प्राप्त कर सके। यदि लेखक इस सत्य को पूरा नहीं कर पाता तो हम उसकी रचना को अकलात्मक कह सकते हैं। यदि लेखक अपने पाठकों को आनन्द प्रदान करने के स्थान पर उन्हें अपने प्रचार-कार्य का साधन बनाना चाहता है तो हम उसे कलात्मक दृष्टि से दोषी ठहरा सकते हैं। यदि लेखक जो कल्पनात्मक अन्तर्दर्शन प्रस्तुत करता है, उसके प्रति सच्चा नहीं है तो भी हम उसे कलात्मक दृष्टि से दोषी पाते हैं। उपन्यास अपने सामान्य रूप-आकार में कला के सामान्य सिद्धांतों से अनुशासित नहीं हो सकता। उपन्यास के प्रकार असीम हैं और इसके रूप इतने अधिक हैं, जितने अधिक जीवन के हैं, किन्तु क्या उपन्यास के रूप कविता के रूप से अधिक वैविध्यमय हो सकते हैं अथवा इसके रूप की विविधता की सम्भावनाएँ अधिक हैं ? उपन्यास के अनेक प्रकार हैं और उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, किन्तु इसे कला के क्षेत्र से उसी प्रकार बहिष्कृत नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार कविता को। उपन्यास का सबसे अच्छा रूप वह है जो विषय-वस्तु को सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत कर सके। उपन्यास में रूप के अर्थ की इससे बढ़ कर दूसरी परिभाषा नहीं हो सकती। सबसे अच्छी कृति वह है, जिसमें विषय-वस्तु और रूप दोनों संघटित हों तथा एक-दूसरे से पृथक् न किए जा सकें—ऐसी कृति जिसमें समस्त विषय-वस्तु रूप में प्रयुक्त हो गई हो और जिसमें रूप समस्त विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करता है। उपन्यास के समान दूसरी कोई कला नहीं है, जिसकी आलोचना अनेक कोणों से की जा सके, क्योंकि उपन्यासकार अनेक कोणों से अपने विषय का प्रतिपादन कर सकता है। स्यूवक ने इस सत्य को स्थापित कर दिया है कि उपन्यास कला है और यह सभी कला के नियमों का पालन करता है और यदि हम उन नियमों को देखें तो हम विशिष्ट कला के रूप में इसकी विशिष्टता अन्वेषित कर सकते हैं।[१]

---

१. मेकिंग ऑफ लिटरेचर, आर. ए. स्कॉट-जेम्स, 'द नॉवेल' अध्याय।

द्वितीय खंड

क्रम में प्रेमचन्दजी भारतीय किसान के आदर्श-स्वरूप को भूले नहीं हैं। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के रहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अंततः आदर्शवादी है।[1] आचार्यजी ने होरी को जिस रूप में आदर्शवादी देखा है, वह वस्तुतः उस रूप में चित्रित नहीं हुआ है। वह सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, बन्धनों आदि के प्रति भीरु है। वही नहीं, सामान्यतः सभी किसान इस रूप में भीरु हैं, भाग्यवादी हैं और कुछ सीमा तक पलायनवादी हैं। होरी का समग्र जीवन सत्-असत् का पुंज है। उसमें यदि कहीं पर भी आदर्शवाद की झलक मिलती है तो वह मात्र उसकी भीरुता का प्रतिफल है, अन्यथा लेखक ने उसे उसकी समस्त सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ चित्रित कर दिया है और इसी कारण वह अपने वर्ग का सफल प्रतिनिधि हो सका है। 'गोदान' में चाहे विषय-वस्तु का प्रश्न हो, चाहे पात्रों के चरित्रांकन का प्रश्न हो और चाहे विभिन्न समस्याओं को विवृति का प्रश्न हो, प्रेमचन्द ने सर्वत्र यथार्थ का ही सम्बल ग्रहण किया है। होरी संघर्षों से लड़ता-जूझता, लड़खड़ाता, धन-धर्मों का आश्रय लेता, अपनी स्वभाव-सुलभ करुणा और दया के कारण और अधिक रिसता अंत में काल-कवलित हो जाता है। उनमें कहीं आक्रोश नहीं, विद्रोह नहीं, किन्तु स्वभावगत दुर्बलताएँ उसके साथ हैं। वह रूढ़िवादी या परम्परावादी है। आज भी भारतीय किसान रूढ़िवादी और परम्परावादी हो है, किन्तु रूढ़ि और परम्परा को आदर्श तो नहीं कहा जा सकता। जो लेखक रूढ़ि और परम्परा में ग्रस्त किसान को उसके समस्त सत्-असत् पक्षों सहित अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है, उसे आदर्शवादी नहीं कह सकते और ऐसे पात्र को भी आदर्शवादी नहीं कह सकते।

'गोदान' में दो कथाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित आदि से अंत तक प्रवहमान हैं। पहली कथा का मूल विषय ग्रामीण जीवन है और दूसरी कथा का नगर-जीवन। उपन्यास में प्रधानता ग्रामीण जीवन की कथा की है, नगर-जीवन गौण है और उपन्यास का अंत भी इसके नायक होरी की मृत्यु के साथ हो जाता है जो ग्रामीण जीवन के कथानक का प्रधान पात्र है। अधिकांश आलोचक इस बात से सहमत हैं कि 'गोदान' के दोनों कथानकों में अन्विति का अभाव है। दोनों कथानक एक दूसरे में घुल-मिल नहीं गए हैं, वरन् एक-दूसरे से कृत्रिम रूप में जोड़ दिए गए हैं। अन्विति की दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं तो निश्चय ही हमें अन्विति का अभाव खटकता है, किन्तु यदि हम दोनों कथानकों को दो ऐसी स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्वीकार कर लें जो एक-दूसरे के समानान्तर प्रवहमान हैं, एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं और दोनों का सुन्दर क।

1. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १४६।

प्रभाव कथा के पूर्व पक्ष ही में समाहित हो जाता है तो सचमुच हम इस उपन्यास के साथ पूर्ण न्याय कर सकते हैं। प्रेमचन्द केवल ग्रामीण जीवन की ही सर्वतोमुखी व्याख्या नहीं करना चाहते थे। वे वस्तुतः तत्कालीन भारतीय समाज का व्यापक विशद और सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे। भारतीय जीवन की समग्रता ग्राम-जीवन और नगर-जीवन के सम्मिलित चित्रण पर ही अवलम्बित है, किन्तु भारतीय जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यहाँ पर नगर नगर है और गाँव गाँव है। नगर-निवासी गाँव में रहने वालों से कोसों दूर हैं। नगर-जीवन पाश्चात्य सभ्यता की आडम्बरमयी दीप्ति में बिलकुल दूसरा हो गया है और ग्राम-जीवन में माटी की गंध है, यह नगर-निवासी में उबकाई भी ला सकती है। तात्पर्य यह है कि दोनों मूलभूत अंतर है, विद्यमान वैषम्य है और यही दर्शाना प्रेमचन्द का उद्देश्य है। यह कारण है कि दोनों जीवन के कथानक एक-दूसरे से मिलना चाह कर भी मिल नहीं पाए हैं। दोनों कथानकों की कलात्मक अन्विति निस्संदेह उपन्यास की कलात्मकता की अभिवृद्धि में सहायक सिद्ध होती, किन्तु अन्विति के अभाव में भी यह उपन्यास औपन्यासिक कला की दृष्टि से सफल है। वस्तुतः अन्विति की बात तब खटकती है जब यह स्वीकार कर चला जाए कि प्रेमचन्द 'गोदान' में ग्रामीण जीवन के ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु जब हम यह बात स्वीकार कर लें कि उनका उद्देश्य समग्र भारतीय जीवन को चित्रित करना था तो दोनों कथानकों में अन्विति का किंचित् अभाव खटकता नहीं। आचार्य वाजपेयी का तर्क है कि इस उपन्यास के नाम से ऐसा कुछ प्रतीत नहीं होता कि यह समग्र भारतीय जीवन के चित्रण का प्रयास है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका सम्बन्ध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है।[१] बिना पढ़े 'गोदान' नाम से मेरी समझ से धार्मिक आभास अधिक हो सकता है। कोई प्रबुद्ध पाठक यह अनुमान लगा सकता है कि 'गोदान' किसी धार्मिक विधि की ओर संकेत करता है और इससे वस्तुतः यही ध्वनित होता है कि होरी जीवन-पर्यन्त एक गाय की लालसा अपने अन्तर्मन में पोषित किए हुए था, उसकी वह लालसा सामाजिक जीवन की विषमता के कारण पूरी न हो सकी और जीवन के अंतिम क्षण में उसी होरी के नाम से शोषक वर्ग के प्रतिनिधि को बीस आने का गोदान करा दिया गया। 'गोदान' से सामाजिक वैषम्य की व्यंजना होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि 'गोदान' नाम भ्रामक है। संभव है प्रेमचन्द ने अधिक विचार किए बिना उपन्यास के अंत के आधार पर 'गोदान' नाम उपयुक्त समझा हो, किन्तु इससे इस उपन्यास की केन्द्रीय विचारभूमि का अत्यन्त धूमिल परिचय प्राप्त होता है। यह प्रेमचन्द का ही दोष

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १४६।

नहीं है। फिर भी छोटे-छोटे उपन्यासकारों ने इस प्रकार की भूलें की हैं। तॉलस्तॉय के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' की भी यही दशा है। उसमें उपन्यास की केन्द्रीय विचार-भूमि का स्पष्ट परिचय नहीं प्राप्त होता। 'युद्ध और शान्ति' की रूपात्मक संगति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए पर्सी ल्यूबक ने कहा है कि उपन्यासकार का आधार जीवन का निर्माण करना है और इस उपन्यास में निस्संदेह जीवन का निर्माण हुआ है, किन्तु स्पष्ट एवं संगत रूप के सौष्ठव का अभाव है। यदि स्पष्ट और संगत रूप होता तो बहुत ही अच्छा होता, तथापि रूपात्मक संगति के अभाव में भी यह एक उत्कृष्ट उपन्यास है।[1] यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो 'गोदान' में रूपात्मक संगति का अभाव नहीं है और भारतीय जीवन का अत्यन्त सुन्दर निर्माण तो इसमें हुआ ही है। सबसे अच्छा उपन्यास वही होता है, जिसमें विषय-वस्तु और रूप दोनों का सामञ्जस्य हो। 'युद्ध और शान्ति' में दोनों का सामंजस्य नहीं है, पर 'गोदान' में किंचित् वैविध्य के बावजूद सामञ्जस्य है। 'युद्ध और शांति' को 'एपिक नॉवेल' के नाम से अभिहित किया गया है। वह गरिमा में महाकाव्य की परम्परा में आता है। उसमें युद्ध और शांति विषयक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान और विवेचन के साथ सैकड़ों पृष्ठ सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना की विवृति से भरे पड़े हैं। उसमें समानान्तर प्रवहमान दोनों कथानकों में कोई तात्विक संगति नहीं है और वह अपनी व्यापकता एवं प्रभावोत्पादकता में अप्रतिम है। वस्तुत. 'युद्ध और शांति' का आयोजन अत्यन्त विराट् है। इसी कारण वह कलात्मक वैविध्य तथा रूपात्मक संगति के अभाव के होते हुए भी *महाकाव्य की गरिमा से मंडित है। 'गोदान' और 'युद्ध और शांति' की कोई तुलना* नहीं है। प्रेमचन्द में तॉलस्तॉय के समान इतना धैर्य और संभवत इतनी प्रतिभा नहीं रही है कि वे तटस्थ भाव से सैकड़ों पृष्ठ सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना के सम्बन्ध में लिखते जाएँ और यह चिन्ता ही न करें कि उनके मूल कथ्य का क्या हुआ और पुनः पूरी सूक्ष्मता के साथ अपने कथ्य को पकड़ लें। इतने विशाल पैमाने पर फिर गए बिखराव को प्रेमचन्द सँभाल नहीं सकते थे। 'गोदान' इस दृष्टि से व्यापकता के स्थान पर सीमित परिवृत्त का निर्माण है और इसे भारतीय राष्ट्रीय जीवन का महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस उपन्यास में युगीन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति व्यापक धरातल पर हुई है। आचार्य वाजपेयी के अनुसार प्रेमचन्दजी का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। वह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही इसमें प्राधान्य है। इस करुण रस प्रधान ग्राम्य चित्र को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा

१. क्राफ्ट ऑफ फिक्शन, पृष्ठ ४०।

सकता। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। लेखक का लक्ष्य केवल ग्राम्य जीवन का सर्वांगीण चित्र ही प्रस्तुत करना नहीं था। लेखक ने ग्राम्य जीवन के साथ ही साथ नगर जीवन को भी चित्रित किया है। इस प्रकार सामान्यतः ग्राम और नगर जीवन के मार्मिक पक्षों को उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता के साथ अंकित किया है। एक ओर दैन्य-दुःख, रोग-बुभुक्षा, पीड़ा-शोषण आदि के चित्र हैं तो दूसरी ओर समृद्धि-वैभव, विलासिता-लम्पटता एवं वैदेशिक प्रभावों के जीवन्त चित्र हैं। एक ओर रूढ़ि-परम्परा, रीति-रिवाज, खान-पान, शादी-विवाह, उत्सव-पर्व आदि के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र हैं तो दूसरी ओर परम्पराओं, जातीय भावनाओं, ढकोसलों-आडम्बरों के प्रति उग्र विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की मर्मस्पर्शी व्याख्या है। एक ओर अन्याय अत्याचार को सहन करने की मूक प्रवृत्ति की व्यंजना है तो दूसरी ओर अन्याय-अत्याचार के प्रति असीम आक्रोश की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति है। 'गोदान' में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन अत्यन्त व्यापक धरातल पर अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द ने जीवन के सत्-असत्, प्रशंसनीय-विगर्हणीय, विस्तृत-संकुचित, विध्यात्मक-निषेधात्मक सभी पक्षों को कुशल चितेरे के समान चित्रित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक उथल-पथल के प्रत्यक्ष चित्र 'गोदान' में अत्यल्प हैं, किन्तु राजनीतिक जीवन की प्रच्छन्न धारा 'गोदान' के आभ्यंतरिक प्रवाह में अनुस्यूत है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो यह बात निश्चित-सी हो जाती है कि युगीन राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है, जिसका सजीव रूपायन 'गोदान' में न हुआ हो। कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि इस उपन्यास में उत्तर प्रदेश के एक गाँव की कहानी है। इसे समस्त भारतीय जीवन का प्रतिनिधि उपन्यास किस प्रकार कह सकते हैं? भारतवर्ष के गाँव गाँव ही हैं। किसी भी प्रदेश का गाँव अपनी विशेषताओं में किसी अन्य प्रदेश के गाँव के सदृश ही है। मूल समस्याएँ एक ही हैं। इसी प्रकार नगर-जीवन की भी मूल समस्याएँ एक जैसी ही हैं। इस कारण 'गोदान' के दोनों कथानक भारतीय जीवन के प्रतिनिधि कथानक हो हैं। भारत में सर्वत्र समस्याएँ एक जैसी ही हैं, जीवन का स्पन्दन एक जैसा है, आचार-विचार, रूढ़ि-परम्परा, जातीय और धार्मिक भावनाएँ एक जैसी ही हैं। अतः 'गोदान' के कथानक में किसी विशिष्ट स्थान की गंध न होकर भारत की गंध है। इसी कारण इसे हम राष्ट्रीय जीवन का उपन्यास कहते हैं।

'गोदान' में पात्रों का विकास बहुत ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक इसके पात्रों के निर्माण में अधिक प्रयत्नशील नहीं है। इस कारण पात्रों पर उसने स्वयं अपने को आरोपित नहीं किया है। उनके स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं हुआ है और उनका अपना व्यक्तित्व निर्मित हो सका है। 'गोदान' में प्रेमचन्द के अन्य

उपन्यासो की तुलना मे जीवन के जीते-जागते चित्र अधिक हैं और उनकी अनेक समस्याएँ है, किन्तु उनके समाधान का प्रयत्न नहीं है; जबकि अन्य उपन्यासो में समाधान का प्रयत्न होने के कारण उनका आदर्शवादी स्वर मुखर है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र अपने वर्ग (किसान) का प्रतिनिधि है। वह व्यक्ति नही है, वरन् वर्ग का प्रतीक है। उसके माध्यम से कृषक-वर्ग के दुःख-सुख, आशा-आकांक्षा, सफलता-विफलता आदि की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। होरी भारतीय किसान का जीता-जागता चित्र है। उसमे गुण भी हैं, दुर्गुण भी। पारिवारिक जीवन मे उसकी आस्था है। वह अपने भाइयो से प्रेम करता है, उनके दुःख-सुख में सम्मिलित होता है। उनके द्वारा किए गए अत्याचार को मूक भाव से सहन कर लेता है, किन्तु उनकी मान-मर्यादा को अपनी मान-मर्यादा समझता है और प्राण-पण से उनकी रक्षा करता है। उसे ईश्वर से भय है, किन्तु सबसे बड़ा भय बिरादरी का है जो अन्ततोगत्वा उसे तोड डालती है। रीति रिवाज, आचार-विचार, रूढि-परम्परा सब को स्वीकार कर लेता है। किसी भी के प्रति रंचमात्र विद्रोह-भाव नहीं है। सब कुछ सिर झुकाकर स्वीकार कर लेता है और इन सबका परिणाम यह होता है कि उसका पारिवारिक जीवन विशृंखलित हो जाता है, उसे अपनी बेटियों का विवाह ऐसे ढग से करना पड़ता है, जैसा उसकी अन्तरात्मा कभी भी स्वीकार न कर पाती। वह 'महतो' से मजदूर हो जाता है। टूट जाता है, बिखर जाता है, उसका शरीर साथ नहीं दे पाता और जीवन-संघर्ष का एक थपेड़ा उसके प्राण-पखेरू को झकझोर कर उडा देता है। यह वस्तुतः उसकी ही करुण कहानी नहीं है, वरन् यह भारतीय किसान की कहानी है।

'गोदान' मे दूसरी ओर झिगुरी सिंह, पडित दातादीन, लाला पटेश्वरी, दुलारी सहुआइन जैसे पात्र है जो नियति के बन्धन मे बँधे, भविष्य के प्रति निराश किसानो का अनेक प्रकार से शोषण करते हैं। कभी-कभी आचार-विचार के ठेकेदार भी बन जाते है। वस्तुत. ग्रामीण जीवन में वैयक्तिक आचार की तुलना मे सामाजिक आचार की ही प्रधानता है। वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक विधि-नियमों का अतिक्रम करते हुए भी वे सामाजिक स्तर पर अपने-आपको पाक-साफ सिद्ध करने का ढोंग रचते हैं। उक्त पात्र वैयक्तिक स्तर पर आचार-विचार मे निम्न कोटि के हैं, किन्तु वे ही सामाजिक स्तर पर होरी को जो दड देते है, वह अमानवीय प्रतीत होता है। ग्राम्य कथानक मे ऐसे भी पात्र है जो सामाजिक बन्धन, जातीय मर्यादा को ज्यों का त्यो स्वीकार नही कर पाते। उनकी दृष्टि मे रूढि-परम्परा, जातीय बन्धन आदि महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे मानवीय भाव को तरजीह देते है। वस्तुत. उनमे विद्रोह का स्वर मुखर है। गोबर, मातादीन, सिलिया, झुनिया मे विद्रोह का यह स्वर अधिक

मुखर है। यातनाओं के बावजूद इनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति अधिक गतिशील है। यह दूसरी बात है कि अर्थ-तंत्र अन्ततः उन्हें परास्त कर देता है, आर्थिक विवशता उन्हें दबोच लेती है। नारी पात्रों में धनिया नारी पात्र अधिक शक्तिशाली है। होरी हर बात को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेता है, किन्तु धनिया में अन्याय सहन करने की शक्ति नहीं है। वह विद्रोह कर बैठती है, भले ही उसे अपने विद्रोह का बहुत बड़ा मूल्य क्यों न चुकाना पड़े।

राय साहब मध्यवर्ती पात्र हैं। ग्रामीण और नगर-जीवन के कथानक की कड़ी वे ही हैं। प्रेमचन्द ने उनके चरित्र के समस्त पक्षों को अत्यन्त सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है। नागर पात्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र मालती और मेहता हैं। मेहता के माध्यम से प्रेमचन्द ने अपनी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को मुखर किया है। उनकी चारित्रिक विशेषताओं को दिखाते हुए उन्होंने उनकी मानवीय संवेदना को अत्यन्त सशक्त प्रणाली से निरूपित किया है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की झंझा के झोंकों में मालती को बहाकर अंत में उसमें भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न कर उन्होंने उसके माध्यम से पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विजय दिखाई है। नागर जीवन में उन्होंने विलासिता का अत्यन्त स्पष्ट चित्र अंकित किया है। दोनों जीवन के वैषम्य की ओर इंगित करना उनका उद्देश्य था। एक बात अवश्य है। ग्रामीण जीवन के पात्रों में संघर्ष-निरत होते हुए भी जीवन का स्पन्दन है, किन्तु नगर-जीवन के पात्रों में जीवन का वैसा स्पन्दन, जीवन की वैसी ताज़गी नहीं है।

'गोदान' संघर्ष-निरत मानव के जीवन का विशद विवेचन है। इसमें लेखक ने शोषक और शोषित के जीवन और व्यवहार के कटु-परुष, मर्मस्पर्शी, अत्यन्त करुण एवं अत्यन्त निष्करुण पक्षों को तटस्थ भाव से उद्घाटित कर दिया है। कुछ लोगों के विचार से 'गोदान' में प्रेमचन्द ने मार्क्सीय सिद्धांत का अनुसरण किया है और उन्हीं के आधार पर जीवन को व्याख्यायित किया है। किन्तु वस्तु-स्थिति यह नहीं है। प्रेमचन्द को मार्क्सीय विचार-धारा से अवगति थी, पर उसके आधार पर उन्होंने 'गोदान' का निर्माण नहीं किया है। जीवन के प्रति उनकी विशेष दृष्टि थी। उसी दृष्टि को उन्होंने अपने इस उपन्यास के माध्यम से अत्यन्त सशक्त रूप में व्याख्यायित किया है। वे स्वयं शोषित वर्ग के रहे हैं और जीवन पर्यन्त उनका शोषण होता रहा है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक है कि शोषित वर्ग के प्रति उनकी सहज सहानुभूति हो जाए। उनकी यह सहानुभूति उनकी तटस्थता के बावजूद उपन्यास में आद्यन्त अंतः सलिला के समान प्रवहमान है। वस्तुतः होरी का जीवन कुछ सीमा तक लेखक के जीवन की आशा-आकांक्षा, सफलता-विफलता, निराशा-कुंठा का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत

करता है। सामजस्यवादी लेखक भी तो होरी के समान हो निरन्तर जीवन के भीषण कालकूट का पान करता असमय मे ही काल-कवलित हो गया था।

'गोदान' की कहानी अधूरी कहानी है। दोनो कहानियाँ अधूरी हैं, किन्तु इसी मे तो इस उपन्यास की पूर्णता है। भाषा बहुत ही सशक्त है। 'गोदान' की भाषा को देखने से यह अनुभव अनायास ही होने लगता है कि प्रेमचन्द उन रत्न-पारखी के समान है, जिसे रत्न की प्रत्येक छटा, आभा और विच्छित्ति का पूरा-पूरा परिचय है। प्रेमचन्द शब्द-विद्या के अद्वितीय पारखी हैं। वे प्रत्येक शब्द की छटा और विच्छित्ति को समझते हैं तथा पूरी कुशलता से शब्दो का प्रयोग करते हैं। हिन्दी मे ऐसे सशक्त गद्य-लेखक विरल हैं। 'गोदान' की भाषा को देखने से ऐसा कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा प्रेमचन्द को पाकर गौरवान्वित हो उठी है।

'गोदान' 'दोष-रहित दूषण-सहित' भारतीय जन-जीवन का मर्मस्पर्शी एवं करुण आख्यान है। काल के थपेड़े इसकी महिमा को किसी प्रकार की आँच नहीं पहुँचा सकते।

नदी के द्वीप

अज्ञेयजी हिन्दी के उन उपन्यासकारों में से हैं, जिन्होंने लिखे तो थोड़े ही उपन्यास हैं, किन्तु अपनी महत् प्रयोगात्मक वृत्ति के कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य को पुष्ट और समृद्ध किया है। अज्ञेयजी ने 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' तीन उपन्यास लिखे हैं और तीनों में उनकी नव प्रयोग की वृत्ति परिलक्षित होती है। शैल्पिक दृष्टि से देखा जाय तो 'नदी के द्वीप' अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ रचना है। 'नदी के द्वीप' में अभिव्यंजना पक्ष अपनी आकर्षक परिष्कृति के साथ विशेष प्रबल हो गया है। अतएव इस उपन्यास की शिल्प-प्रधानता के सम्बन्ध में मतैक्य है।[1] इस उपन्यास का कथा-तंतु अत्यन्त दुर्बल है और जहाँ तक जीवन-दर्शन और सामाजिक जीवन का पक्ष है, वह पूर्णतया तिरस्कृत है। लेखक ने व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को स्थापित किया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कट में बद विचित्र और अजनबी प्राणी-सा प्रतीत होता है तथा शेष संसार के र रागात्मक सम्बन्ध यदि स्थापित भी करता है तो अपने निजी वैयक्तिक स्वार्थ-भाव परिचालित होकर। जहाँ तक कलात्मक परिणति का सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट रूप कही जा सकती है कि इस उपन्यास की कलात्मक परिणति निर्विवाद सिद्ध है।

'नदी के द्वीप' की मूल समस्या प्रेम, यौनवृत्ति और विवाह है। लेखक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। इस कारण उसने संकुचित सीमा में बँधकर उक्त समस्या को अपने पात्रों के माध्यम से विवेचित किया है। सारा विवेचन व्यक्ति-सापेक्ष समाज-सापेक्ष नहीं। प्रेम के सम्बन्ध में 'नदी के द्वीप' के पात्रों में कुछ विशेष प्रका के विचार हैं। हेमेन्द्र प्रेम को अत्यन्त विकृत अवस्था में देखता है और वह समलैंगि वृत्ति को अधिक महत्त्व देता है। वस्तुतः उसने रेखा से विवाह ही इसी उद्देश्य किया था कि रेखा और हेमेन्द्र के प्रिय पात्र की आकृति में अद्‌भुत साम्य था। रेखा क

---

१. आधुनिक समीक्षा, डॉ० देवराज, पृष्ठ १३८।

प्रेम-भाव दूसरे धरातल पर अवस्थित है। उसमें सौंदर्य की यौंच है, अतः विशेष प्रकार की दीप्ति है। चिन्द्र यदि अपने मित्रों को उसके पास छोड़ चला जाता था, किन्तु सूर्यमणि के समान अपनी दीप्ति विकीरित करती हुई रेखा वासना के तिमिर से आच्छन्न नहीं हुई। चंद्रमाधव के सभी प्रकार के प्रयास उसे विजित करने में विफल रहे, जबकि किसी प्रतिदान के भाव के बिना उसने भुवन को अपने आपको समर्पित कर दिया। आदान का कोई भाव नहीं, आगत की कोई चिन्ता नहीं और उसने उन्मुक्त भाव से भुवन के प्रति अपने द्रवणशील प्रेम को ढरका दिया और अपने आपको परितुष्ट (फुलफिल्ड) अनुभूत किया। वह कभी श्रीमती हेमेन्द्र थी, आगे चलकर श्रीमती रमेशचन्द्र भी हो गई, किन्तु यदि वह किसी को प्यार कर सकी, या करती है या करेगी तो वह केवल भुवन है। भुवन को तिरस्कार और अपमान से बचाने के लिए ही उसने औषधि लेकर अपने यौनकार-मर्जन को भी नष्ट कर दिया। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि रेखा की प्रेम-भावना आदर्शवाद की भावना से अनुप्राणित है जो उसकी व्यक्तिवादी एवं आत्म-परिबद्ध चेतना के कारण धूमिल पड़ गई है। गौरा का प्रेम विशुद्ध आदर्श प्रेम है। भुवन के प्रति उसका श्रद्धा-भाव धीरे-धीरे विकसित होता हुआ साध्य गगन के सदृश उसके हृदय में, सहसा असंख्य तारक के सदृश देदीप्यमान प्रेम-भाव में परिणत हो गया। रेखा की तुलना में गौरा की स्थिति अधिक दृढ़ है। उसका व्यक्तित्व गतिशील है, किन्तु परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण उसका प्रेम स्थिर और विकासशील है। वह 'भुवन ही में जीती है' इस कारण उसका प्रेम भुवन के प्रति प्रगाढ़ ही होता गया है। रेखा-भुवन के प्रेम-सम्बन्ध को जानकर भी वह अपने मन में भुवन के प्रति किसी प्रकार का विकार नहीं ले आ पाती। पुरुष पात्रों में चंद्रमाधव के लिए प्रेम वासना का पर्याय है और भुवन का प्रेम द्विधा विभक्त होकर कुछ विशेष रूप में प्रस्फुटित होता है। उसके अंतर्मन में गौरा के प्रति सहज आकर्षण है, किन्तु गौरा के सलज्ज भाव उसे अपनी ओर सरलता से आकृष्ट नहीं कर पाते, जबकि रेखा का मादक सौंदर्य, उसकी व्रीडा के पारदर्शी आवरण में लिपटी आकर्षक दीप्तिमयी भावना भुवन को अपने सस्मित इंगित से अपनी ओर खींच ही लेती है और नारी-सौंदर्य, दीप्ति एवं प्रगल्भता की सुकोमल, लचीली डोर में बँधा वह रेखा की ओर खिंचता ही गया है। रेखा के प्रति भुवन का जो प्रेम है, वह वस्तुतः प्रेम नहीं है, वरन् सौंदर्य का मधुर आकर्षण है, वासना का सम्मोहन है, जबकि गौरा के प्रति उसका सहज आकर्षण प्रेम का नामांतर है। रेखा की ओर अपने रुझान एवं वासनात्मक सम्बन्ध के कारण उसके अचेतन में एक अपराध-भावना घर कर जाती है जो रेखा के भ्रूण-हत्या से आवृत हो और भी विकट रूप धारण कर लेती है। इसी कारण वह गौरा से दूर-दूर भागता है। गौरा के सामने अपराध-स्वीकृति के अनन्तर उसकी अपराध-भावना

का दुःखद अंत आता है और तत्पश्चात् गौरा के प्रति उसका सहज प्रेम निर्विघ्न भाव से प्रभावित हो उठता है। 'नदी के द्वीप' में दोनों नारी-पात्र प्रेम की दृष्टि से बराबर प्रोत्साहित किया गया है, किन्तु दोनों की मूलभूत दृष्टियों में महान् अन्तर है।

यौन वृत्ति को अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में विशेष रूप से चित्रित किया है। उपन्यास के सभी पात्र व्यक्तिवादी हैं। इस कारण लेखक के यौन-वृत्ति के स्वच्छंद, उन्मुक्त रूप को भी उद्घाटित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है। इस उपन्यास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण (?) बात है अस्वाभाविक यौन वृत्ति की मानसिक विकृति। लेखक ने शुरू में हेमेन्द्र की विकृत यौन वृत्ति की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। उसी विकृति के कारण हेमेन्द्र और रेखा का वैवाहिक जीवन कटु-तिक्त हो उठा। हेमेन्द्र रेखा से जो खोजता चाहता था, उसे वह उसमें प्राप्त नहीं कर सकता था। नौकुछिया ताल के सुन्दर वातावरण में भुवन और रेखा एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आ गए।

'भुवन ने कुमुद का गुच्छा उसकी कबरी में खोंस दिया। वह इतना बड़ा था कि आधी कबरी को और कान तक बालों को ढक रहा था : उसे ठीक से अटकाने के लिए भुवन कुछ आगे झुका कि एक-आध काँटा खींचकर कबरी कुछ ढीली करे : सहसा रेखा ने दोनों बाहें उठा कर उसका सिर घेर लिया, कन्धे के ऊपर से उसे निकट खींचकर उसका मुँह चूम लिया—बड़े हलके स्पर्श से लेकिन ओठों पर भरपूर।'

'भुवन भी कुछ चौंक गया, वह भी चौंककर छिटककर खड़ी हो गई, दोनों ने स्थिर और जैसे असम्पृक्त दृष्टि से एक-दूसरे को देखा, फिर एक साथ ही दोनों ने हाथ बढ़ाकर एक-दूसरे को खींच लिया, प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया और चूम लिया—एक सुलगता हुआ, सम्मोहन, अस्तित्व-निरपेक्ष, तदाकार चुम्बन।'

लेखक ने यहाँ पर युगल-प्रणयी की स्वच्छंद यौन-वृत्ति का उन्मुक्त भाव से चित्रण किया है। एक-दूसरे के भाव में एकाएक ज्वार आ गया है, किन्तु रेखा आ[illegible] है और भुवन किंचित् संयत। भावाविष्ट रेखा ने भुवन से कहा—'मैं तुम्हारी हूँ, भु[illegible] मुझे लो।' किन्तु भुवन का सारा संस्कार उसकी स्वच्छंद प्रणय-केलि में प्रतिब[illegible] सिद्ध हुआ। उसका सारा शरीर काँपने लगा और वह रेखा की जाँघ में अपना [illegible] गड़ाकर सिसकने लगा और अस्पष्ट शब्दों में कहने लगा—'यह इन्कार नहीं है, रे[illegible] प्रत्याख्यान नहीं है······यह सब बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर···वह···वह सौन्दर्य [illegible] चरम अनुभूति होती है—होनी चाहिए—मैं मानता हूँ···इसीलिए डर लगता है, अ[illegible] वह—अगर वैसा न हुआ—जो सुन्दर है उसे मिटाना नहीं चाहिए······तुमने जो दि[illegible] है, उसके सौंदर्य को मैं मिटाना नहीं चाहता, रेखा, जोखम में नहीं डालना चाहता। [illegible] बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर······'

नारी की स्वाभाविक यौन-वृत्ति पुरुष की भाव दशा से जगाई गई और उसने अपना सब कुछ पुरुष पर निछावर कर दिया। वस्तुतः रेखा ने उन्मुक्त भाव से अपने आपको भुवन को समर्पित कर दिया, किन्तु अपने सहज संकोचशील स्वभाव एवं अपने संस्कारों के कारण भुवन रेखा के प्रणय का प्रतिदान न दे सका। यहाँ पर लेखक ने दोनों की यौन-वृत्ति को संयत भाव से अंकित किया है किन्तु तुलियन झील के रम्य-स्निग्ध वातावरण में लेखक संयत भाव नहीं रख सका है और दोनों के क्रिया-कलाप को इस रूप में वर्णित किया है कि दोनों की वृत्तियों में उच्छृंखलता आ गई है और सारा वर्णन अतिशय शृंगारिक हो उठा है—उदाहरण के लिए देखिए—

'भुवन ने कम्बल खींचकर कन्धे ढँक दिए। कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा।' 'भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिम-पिंडों की शीतलता भुवन की छाती में चुभने लगी।'

'सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले से बटन खोले और चाँदनी में उभर आए उसके कुचों के बीच की छाया भरी जगह को चूम लिया फिर अवश भाव से उसकी ग्रीवा को, कन्धों को, पलकों को, ओठों को, कुचों को······और फिर उसे अपने निकट खींचकर ढँक लिया।'

'और उसने बड़े जोर से रेखा के ओठ चूम लिए, वह जागी और उसकी ओर उमड़ आई और वह उमड़ना फिर एक आप्लवनकारी लहर हो गया।'

लेखक ने उक्त स्थलों पर रेखा और भुवन की यौन वृत्ति का खुलकर वर्णन किया है। उसका सांकेतिक रूप भी प्रस्तुत किया जा सकता था, किन्तु उन्मुक्त भाव से वर्णन कर उसने उक्त स्थलों को उत्तेजक-सा बना दिया है। तथापि यह बात निश्चित-सी है कि उक्त वर्णनों में अश्लीलता नहीं है, जैसा कि बहुत से आलोचकों ने आरोप लगाया है।

चन्द्रमाधव की यौन-वृत्ति अधिक विकृत है। वह रेखा और गौरा को पाने की कोशिश करता है, किन्तु वह किसी को भी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सका। अपनी पत्नी कौशल्या के प्रति उसके मन में किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है, क्योंकि पत्नी में वह प्रेयसी का रूप पाना चाहता है, पर वह रूप पा नहीं सकता। इसी कारण उसके प्रति उसके मन में घृणा-भाव है। यह दूसरी बात है कि वासना से अभिभूत होकर वह उसके ही निकट जाता है। उसकी वासना का एक चित्र देखिए—

'चन्द्र ने उसकी काँपती-सी देह को खींचकर चारपाई पर गिरा लिया और एक क्रूर चुम्बन में उसके ओठ कुचल दिए—अँधेरे में कौशल्या की देह का कम्पन सहसा स्थिर हो आया—उन ओठों में वासना थी, सूखे गर्म ओठ, पुरुष के ओठ पर प्रेमी के नहीं, प्यार नहीं, बीते हुए स्मरणाग्नि चुम्बनों की गरम-गरम राख···'

इसमे कोई संदेह नही कि 'नदी के द्वीप' में यौन-वृत्ति का संयत वर्णन नहीं है। कहीं-कही लेखक ने अपने अनुशासित, संयमित रूप का परित्याग कर दिया है और यौनि-वृत्ति के उच्छृंखल वर्णन मे, अनजाने ही सही, रस लेने लगा है।

व्यक्तिवादी उपन्यास होने के कारण वैवाहिक संस्था के प्रति एक विशेष प्रकार की दृष्टि इसमें मिलती है। रेखा का वैवाहिक जीवन अभिशप्त ही सिद्ध हुआ। इस कारण उसकी दृष्टि मे विवाह का कुछ दूसरा मूल्य है। भुवन के प्रति आकृष्ट होकर उसने भुवन को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, किन्तु बीनकार-सर्जन की सामाजिक सुरक्षा के लिए जब भुवन ने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, तो वह उस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सकी। ऐसा नही था कि भुवन से प्रेम नही करती थी, वरन् वह उसे बधन मे नहीं डालना चाहती थी। उसने स्वयं जो विवाह कर लिया, उसमे सामाजिक सुरक्षा की भावना नहीं थी, वरन् वह भुवन और गौरा के मिलने का मार्ग प्रशस्त करना चाहती थी। व्यक्तिगत रूप में वह विवाह पसन्द नही करती थी, क्योंकि उसकी दृष्टि मे विवाह प्रेम के गले को घोट देता है। भुवन और गौरा सामाजिक सस्कार को अस्वीकार नहीं कर सके हैं। उन दोनों की दृष्टि मे वैवाहिक संस्था उपादेय है, पर वरण की स्वतन्त्रता वे वाछनीय समझते हैं। चंद्रमाधव अपनी विवाहिता पत्नी को स्वीकार नही कर पाता। वह अपने वैवाहिक जीवन के दायित्व से भागता है। अपनी संतानों को अपना नही पाता। वह अपनी पत्नी मे वह नहीं पाता जो वह पाना चाहता है। इसी कारण वह एक अभिनेत्री से विवाह कर लेता है। व्यक्तिवादी दृष्टि के कारण वह सामाजिक दायित्व से पलायन कर जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'नदी के द्वीप' मे प्रेम, यौन-वृत्ति और विवाह को पूर्णतया व्यक्तिवादी स्तर पर चित्रित किया गया है। उक्त समस्त वृत्तियो मे संयम और अनुशासन का अभाव परिलक्षित होता है।

उक्त समस्याएँ पूर्णतः वैयक्तिक समस्याएँ हैं, समाज के साथ इनका कोई सम्बन्ध नही है। उपन्यास के चारो पात्र उन्हें व्यक्तिगत स्तर पर ही ग्रहण करते हैं, यदि उनमें कही सामाजिक भावना आई है तो उनके संस्कार के कारण, अन्यथा वे सब अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में निमग्न हैं। 'नदी के द्वीप' की कथावस्तु शृंगार-प्रधान है। कथा-वस्तु का स्वरूप बहुत ही सक्षिप्त है। पति-परित्यक्ता रेखा चंद्रमाधव के सम्पर्क में आती है और भुवन से मिलकर उसकी ओर आकृष्ट होती है और अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उसे अभिभूत कर लेती है। यह जानकर कि भुवन के मन मे गौरा के प्रति अत्यन्त मृदुल भाव हैं, वह भुवन के जीवन से निकल जाती है और अंत में डॉ० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेती है। कथा-सूत्र के विकास मे ... कि भुवन और गौरा भी एक-दूसरे से मिल :

न तो गौरा को अपनी ओर आकृष्ट कर पाता है। वह अन्त पारिवारिक दायित्व को छोड़ एक अभिनेत्री से विवाह कर लेता है। इतनी-सी कथा-वस्तु को लेखक ने अपनी अपूर्व प्रतिभा के कारण अत्यन्त प्राणवान् बना दिया है। चार व्यक्तियों की जीवन-चर्या, उनके मानसिक भाव, आचार-विचार को धीरे-धीरे उसने व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है और मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाकर कथा-सूत्र को बहुत ही स्वाभाविक ढंग से विकसित किया है। पूरे उपन्यास की योजना इस प्रकार हुई है कि प्रत्येक पात्र को दो-दो अध्याय अपने भाव-विचार व्यक्त करने के लिए दिए गए हैं और अंतराल मे उन सबकी औचित्यपूर्ण अन्विति पत्रों के माध्यम से स्थापित की गई है। कथा-वस्तु सुनियोजित है। इस कारण उसके क्रमिक विकास मे कहीं भी अस्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती। हाँ, इतना अवश्य है कि उपन्यास की भूमिका अत्यन्त सीमित-परिवद्ध स्तर की है। समस्या व्यक्तिगत स्तर की है और समाधान भी व्यक्तिगत स्तर का है। ऐसा क्यों हुआ? यहाँ इस प्रकार का कोई प्रश्न अयौक्तिक है। ऐसा हुआ, यह यथार्थ है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना मन.संसार है। उसी मे वह जीता है और मरता है तथा उसका मनः संसार दूसरे के लिए अज्ञेय है।

पात्रों के निर्माण मे लेखक को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हुई है। 'नदी के द्वीप' मे ऐसा कोई पात्र नहीं है जो पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ सके। रेखा के निर्माण मे लेखक ने स्यात् अधिक सावधानी दिखाई है, किन्तु उसके अंतर्मन के साथ उसका व्यक्तित्व भी टूटा हुआ ही रह गया है, उसके विचारों में अंतर्विरोध है। लेखक ने उसे बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का यत्न किया है, किन्तु वहाँ पर भी उसकी बौद्धिकता ऐसी नहीं है जो पाठकों को छू जाए या अभिभूत कर ले। वर्तमान मे जीना उसका जीवन-दर्शन है। क्षण की अनुभूति ही को वह यथार्थ अनुभूति मानती है, किन्तु सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि वह क्षणों की परम्परा मे जीती है और भूत के आधार पर आगत के सम्बन्ध में निर्णय लेती है। क्षणजीवी के लिए 'मैं प्यार करती हूँ' यहीं तक अलम् है, 'प्यार करूँगी' यह उसका विषय नहीं है, किन्तु भुवन के सम्बन्ध मे रेखा ऐसा ही करती है। रेखा मे बौद्धिकता है, संवेदना है, दृढ़ता है, किन्तु ऐसा कुछ नहीं है जो 'शेष प्रश्न' के कमल के समान उसे पाठकों के हृदय मे बैठा दे।

भुवन को लेखक ने बौद्धिक और संवेदनशील सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर उसकी बौद्धिकता पृष्ठभूमि मे ही कॉस्मिक रश्मियों के साथ रह गई है और उसका संवेदनशील रूप या और यथार्थ रूप मे उसका अति भावुक रूप पाठकों के सामने अधिक स्पष्ट होकर आया है। रेखा के प्रथम दर्शन पर ही वह उसके व्यक्तित्व और उसकी वाकपटुता से अभिभूत हो जाता है। हम कहना चाहे तो कह सकते हैं वह उसकी सौंदर्य-

छटा से विमुग्ध हो खिंच उठता है और निरंतर खिंचता जाता है। इससे बढ़कर और कैसी भावुकता हो सकती है कि वह रेखा को स्टेशन पर छोड़ने गया था, किन्तु उसके इंगित मात्र पर उसके साथ-साथ नैनीताल चला गया। क्या यह उसके व्यक्तित्व का दुर्बल पक्ष नहीं है? जब रेखा ने उन्मुक्त भाव से भुवन को अपने आपको समर्पित कर दिया, उस समय भुवन का रुदन बहुत ही बचकाना प्रतीत होता है। 'सौंदर्य को मैं मिटाना नहीं चाहता' आदि उसकी उक्तियों में ऐसा कोई मर्म-गाम्भीर्य नहीं है, जिनसे उसके रुदन का कोई समाधान प्राप्त हो सके; जबकि तुलियन झील के रम्य वातावरण में उसी भुवन को रेखा का उन्मुक्त समर्पण एवं रेखा का मृदु साहचर्य आह्लादकारी, शीतल और शामक प्रतीत हुआ। क्या यहाँ पर सौंदर्य के मिटाने का प्रश्न उचित नहीं हुआ? इसमें कोई संदेह नहीं कि भुवन रेखा की तुलना में अधिक सहज है, संकोचशील है, किन्तु क्षण की अनुभूति में उसका भी विश्वास है जो बीच ही में विशृंखलित हो जाता है। रेखा में आरोपित अपने तत्व को सामाजिक सुरक्षा एवं मान्यता देने के अभिप्राय से उसने रेखा के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा था, किन्तु रेखा उसे बंधन में बाँधना नहीं चाहती थी। इसी कारण मर्मान्तुद वेदना सहनकर उसने भ्रूण-पात करा दिया और वह भ्रूण-पात भुवन के अंतर्मन को बहुत गहराई तक छू गया। उसे ऐसा प्रतिभासित होने लगा था कि मानो माँ की लाशों में जमे हुए बच्चों को वह देखा करता था। यहाँ पर भी बौद्धिक स्तर की तुलना में उसका संवेदन ही अधिक व्यापक है। रेखा के प्रति उसमें जो आत्मीय आसक्ति हुआ, उसके फलस्वरूप उसके मन में गौरा के प्रति किंचित् औदासीन्य और उससे अधिक स्वभावगत [illegible] संकोच भाव उत्पन्न हो गया। यही कारण है कि वह गौरा से कतराने लगा। यह वस्तुतः उसका सहज मानवीय रूप है। मनोविश्लेषण के रूप में [illegible] उसकी [illegible] उसकी मानसिक ग्रंथि को [illegible] कर दिया और [illegible] गौरा की ओर [illegible] स्थापित हो उठा। वस्तुतः [illegible] भुवन रेखा और गौरा चक्र-दोराहे पर ही दोलायमान होता रहा। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं बन पाता है।

चंद्रमाधव में [illegible] आरंभ से ही [illegible] हो जाता है। [illegible] को मन में नहीं [illegible], क्योंकि वह [illegible] व्यवहार, [illegible] के कारण नहीं कर सकती थी। [illegible] और उसके सौंदर्य, [illegible] व्यवहार और [illegible] के कारण [illegible] होता है और [illegible] में [illegible] होकर गौरा के [illegible] का [illegible] करता है। रेखा और भुवन के [illegible] का [illegible] कर उसके मन में भुवन के प्रति [illegible] को [illegible] है और [illegible] के [illegible] होकर [illegible] के [illegible]

लेता है तथा अपने पारिवारिक दायित्व से पलायन कर जाता है। चन्द्रमाधव का चारित्रिक विकास लेखक स्वाभाविक रूप से दिखा सका है। उसकी वासना, यौन-वृत्ति, ईर्ष्या आदि [illegible] वृत्तियों को लेखक ने सहज रूप में चित्रित किया है, किन्तु मार्क्सवादी के स्तर पर उसे बुर्जुआ के रूप में दिखाया जाना किसी प्रकार का औचित्य नहीं रखता, क्योंकि उसमें वैचारिक धरातल पर भी साम्यवादी विचार-पद्धति की कोई प्रतिध्वनि सुनाई नहीं पड़ती।

'नदी के द्वीप' में भावात्मक धरातल पर सर्वोत्कृष्ट पात्र गौरा है। लज्जाशील विनयशील, मृदु, दृढ़ निश्चयी, मितभाषी और अपने विचार तथा व्यवहार में स्पष्ट। उसके मन में भुवन के प्रति आरम्भ से श्रद्धा मिश्रित आकर्षण उत्पन्न होता है और वही धीरे-धीरे विकसित होकर सहसा प्रणय का रूप धारण कर लेता है। प्रणय का आलोक छिपाए नहीं छिपता, किन्तु वह अपने प्रणय को भुवन से सायास छिपाती है। ऐसा नहीं है कि भुवन के मन में उसके प्रति कम आकर्षण है, किन्तु लज्जा से अवगुण्ठित छुई-मुई गौरा को देखकर सहज सकोचशील भुवन अपनी भावना को हृदय के कोने में ही सहजाकार सुला देता है। यदि उसे गौरा के महिमा-मंडित प्रणय का ज्ञान होता तो वह सम्भवतः रेखा की ओर न मुड़ता। वह भावनाशील अवश्य था, किन्तु कामुक नहीं था और गौरा को अपने भुवन दा पर अपने से अधिक विश्वास था, क्योंकि उसकी दृष्टि में भुवन दा अपने गौरव और अपनी महिमा के सम्बल से वहाँ अवस्थित थे, जहाँ साधारणतः किसी की दृष्टि नहीं पहुँच सकती थी और वह निर्मलानन्द में मग्न घुल कर, द्रवकर उनकी उपासना कर सकती थी। उसे यह ज्ञान कहाँ था कि रेखा जैसी नारी के मादक सान्निध्य में उनका वज्रकाठ द्रवित हो जाएगा। गौरा को रेखा और भुवन के सम्बन्धों का ज्ञान हुआ, किन्तु भुवन के प्रति उसके मन में किंचित् भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। अपने प्रति भुवन की उदासीनता उसके लिए असह्य अवश्य थी, फिर भी मूक भाव से अतर्मुखी होकर संगीत में अपने मन को रमाकर वह सहन करती रही। भुवन अपनी अपराध-भावना के कारण उससे दूर भागता रहा और वह थी अपने आराध्य को कसकर अपने पास खींचती रही। भुवन की अपराध-स्वीकृति से भी उसे किसी प्रकार की ग्लानि नहीं हुई। रेखा और भुवन के इतने निकट के सम्बन्ध ने भी उसके मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने दिया। आखिर वह भुवन से जो जीती थी। इतना उदार और सहनीय चरित्र। अपने आराध्य के स्खलन को उसने सहज भाव से ग्रहण कर लिया और उसे अपनाने के लिए, उसे सांत्वना देने के लिए उसके ऊपर झुककर अपनी केश-कादम्बिनी से उसके मुख-मण्डल को आवृत कर लिया और उसे अपनाने के लिए सतत प्रयत्न करती रही। 'नदी के द्वीप' में गौरा का पात्र अत्यन्त उज्ज्वल, महिमा मंडित और अकुंठित है।

पुनतः व्यक्तिवादी उपन्यास होने के कारण 'नदी के द्वीप' में सामाजिक जीवन और जागतिक समस्याओं की ओर उपेक्षा है। इस उपन्यास का प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी, व्यक्तिगत समस्याओं से इस प्रकार आक्रान्त है कि उसे दूसरे की ओर ध्यान देने का अवसर कम प्राप्त होता है। ऐसा को क्षणानुभूति से अस्तित्ववादी विचारधारा का संकेत मिलता है, किन्तु यह अपने वर्तमान या क्षण की अनुभूति से अधिक समय तक रह नहीं पाती और उसकी क्षण की अनुभूति, क्षणों की परम्परा में संक्रमित हो जाती है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु का काल द्वितीय विश्व महायुद्ध का काल है। उस समय विश्व के सामने विषम विभीषिका के दृश्य विद्यमान थे, किन्तु इस उपन्यास के पात्रों के अंतर्मन में यह विभीषिका अभिवर्द्धिनी घटना कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाती। चंद्रमाधव वैचारिक धरातल पर इससे प्रभावित हुआ था। इसी कारण उसने गोरा की संगीत-साधना पर प्रश्न किया था, किन्तु गोरा का उत्तर नितांत व्यक्तिवादी स्तर का था। उक्त विश्व-युद्ध के अवसर पर भुवन ब्रिटिश सरकार को साहाय्य अर्पित करने के उद्देश्य से फ्रंट पर गया अवश्य था, किन्तु उसका उद्देश्य न तो सरकार को सहायता अर्पित करना था, न तो वैज्ञानिक अनुसंधान के उत्साह का प्रदर्शन था और न तो भारतीय स्वाधीनता के लिए किसी प्रकार का कार्य-सम्पादन था, अपितु वह अपने आपमें, अपने मानसिक संघर्ष से पलायनोन्मुख होकर युद्ध की विस्फोटक स्थिति में कूद पड़ा था। जिस कालावधि का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है, वह अवधि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के चरम उत्कर्ष की अवधि है, किन्तु वैयक्तिक स्वातंत्र्य के अधिवक्ता चारों पात्रों के मन में कहीं पर भी राष्ट्रीय और सामाजिक स्वातंत्र्य-भाव की छोटी-सी लहर भी उठती हुई दृष्टिगत नहीं होती।

इस उपन्यास की सफलता इसके शिल्प-विधान में निहित है। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का लेखक ने बहुत ही सफल प्रयोग किया है और अनेक परिप्रेक्ष्यों में, अनेक दृश्य विधानों में पात्रों की चारित्रिक विशेषता पर इस रूप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है कि उनके मानसिक धरातल के निगूढ तत्व भी सरलतापूर्वक उभर कर सामने आ सके हैं। मानवीय चेतना-लहर की सूक्ष्मताओं को लेखक सफलतापूर्वक आलोकित और विवेचित कर सका है। ऐसा करने के लिए उसने ऐतिहासिक सर्वज्ञता की प्रणाली न अपनाकर मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की अधुनातन टेकनीक को बहुत ही सफलता के साथ अपनाया है। प्रत्यवलोकन या स्मृत्यवलोकन, पूर्वदीप्ति, चलचित्रात्मक, पत्रात्मक, डायरी, नोट आदि अनेक विधियों का आश्रय ग्रहण कर उसने पात्रों की मनोभूमि को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिनका पात्र स्मृति के आधार पर अवलोकन करते हैं; कुछ घटनाओं की दीप्ति से वे उच्छ्वसित हो अपने मनोभाव व्यक्त

कर देते हैं, कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्हें पात्र सम्भवतः प्रत्यक्ष रूप में नहीं कह सकते, किन्तु पत्र में उनकी अभिव्यक्ति सरलता से कर देते हैं; दूसरे पात्रों की प्रतिक्रियाओं का भी पात्रों के माध्यम से अच्छा बोध हो जाता है और रही-सही बातें डायरी, नोट आदि से व्यंजित हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि लेखक ने अपनी ओर से कुछ न कहकर पात्रों के माध्यम से ही उनके मनोभाव, कार्य-विधि, विचार-सरणि आदि को सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया है।

'नदी के द्वीप' में उद्धरणों का बाहुल्य है। उद्धरणों को या तो पात्रों के प्रस्तुत भाव को रंजित करने के उद्देश्य से या उनकी पुष्टि के उद्देश्य से या प्रोतेजन के उद्देश्य से प्रयुक्त किया गया है, किन्तु ये उद्धरण ही इस उपन्यास के सबसे दुर्बल पक्ष हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपन्यास के मुख्य पात्र रेखा और भुवन उद्धरणों में ही जीते हैं, उनका निजी कुछ नहीं है। साथ ही एक विज्ञान के डॉक्टर में साहित्य की ऐसी मर्मज्ञता दिखाकर लेखक ने और भी विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी है।

इस उपन्यास में प्रतीक-विधान का कुशल प्रयोग हुआ है। उपन्यास का नाम ही प्रतीकात्मक है और नाम के प्रतीक को स्पष्ट करने का लेखक ने अनेक स्थानों पर प्रयत्न किया है, किन्तु इससे जीवन के सन्त्रास, अस्तित्व के खतरे आदि का बोध न होकर मनुष्य की विवशता का बोध अधिक होता है।

एकाध स्थान पर लेखक ने स्वप्न-विश्लेषण पद्धति भी प्रयुक्त की है जो अपने आप में प्रतीकात्मक है और विशेष रूप से प्रभाव उत्पादित कर सकी है।

'नदी के द्वीप' में स्थान-स्थान पर प्रकृति-दृश्यों के अभिराम चित्र उरेहे गए हैं। कुछ आलोचकों की दृष्टि में उन प्रकृति-दृश्यों से उपन्यास का प्रवाह बाधित हो उठा है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, अपितु प्रकृति के चित्र-विचित्र दृश्य उपन्यास के प्रवाह में रंग-बिरंगे रत्नों के समान जगमग-जगमग दीप्त होकर पाठकों को और भी रस-मग्न करने की क्षमता रखते हैं।

शिल्प से भी अधिक इस उपन्यास की भाषा की आलोचकों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। डॉ० देवराज को सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारी भाषा में, उसके विकास की इस अवस्था में, 'नदी के द्वीप' जैसी रचना प्रस्तुत की जा सकती है।[1] ......उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही में टकसाल से ढल कर नई चमक नयी व्यंजकता लेकर आगत हुआ है। वे शब्द जो सुपरिचित हैं और वे जो अल्प-परिचित हैं, सभी यहाँ निराली सार्थकता से दीप्त और मुखर हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस उपन्यास की भाषा बहुत ही प्रांजल, परिष्कृत

---

१. आधुनिक समीक्षा, डॉ० देवराज, पृष्ठ ११८।

और प्रौढ़ है। 'नदी के द्वीप' के पूर्व किसी भी उपन्यास में इतनी सुघड़ भाषा नहीं मिल सकती। भाषा पर लेखक का अद्भुत अधिकार है और वह शब्दों की छटा को और विच्छित्ति को परखने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है। भाषा में सरस-ऋजु प्रवाह है और अनेक स्थलों पर विराम-चिन्हों से भी भावों की विलक्षण व्यंजना कराई गई है। स्थल-विशेष, पात्र-विशेष और भाव-विशेष को देखकर भाषा के स्वरूप को ढाला गया है। फलतः इस उपन्यास की भाषा बहुत ही सशक्त बन पड़ी है। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग रत्न-राशि में बदरंगी ककड़ियों के समान खटकता है। भावावेश एवं भावाकुलता के प्राधान्य के कारण नपे-तुले शब्दों के स्थान पर कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग कहीं-कहीं पर किया गया है, कम शब्दों में भी भाव की कुशल व्यंजना संभव है।

"दुःख सबको माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

उक्त कविता को अज्ञेयजी ने 'नदी के द्वीप' के आरंभ में देकर संभवतः यह संकेत दिया है कि इस उपन्यास में करुणा और वेदना का स्वर प्रधान है किन्तु इस उपन्यास में करुणा और वेदना का ऐसा कोई स्थल नहीं है जो पाठकों को छू जाए। रेखा की वेदना का ऐसा कोई रूप नहीं है जो करुणा का उद्रेक कर सके। कुछ सीमा तक उसके निजी, व्यक्तिगत जीवन ने उसे माँजा अवश्य था। इसी कारण वह भुवन को मुक्ति दे सकी।

शृंगार प्रधान यह उपन्यास पाठकों पर अमिट प्रभाव उत्पन्न करने में अक्षम है। यह न तो बुद्धि को और न तो मन को अपने प्रभाव में समेट पाता है और अपने किसी चरम लक्ष्य की ओर भी पाठकों को आकृष्ट नहीं कर पाता। वैसे इस उपन्यास का कोई चरम लक्ष्य है भी नहीं। शिल्प और भाषा की दृष्टि से असाधारण रचना होते हुए भी प्रभाव की दृष्टि से यह एक साधारण रचना है।

मृगनयनी

'मृगनयनी' का वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। कुछ आलोचक इसे सर्वोत्कृष्ट उपन्यास समझते हैं। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'महारानी लक्ष्मी बाई' और 'मृगनयनी' अधिक विख्यात उपन्यास हैं। इन सबमें मध्यकालीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति, जीवन-पद्धति आदि के अत्यंत जीवन्त एवं मार्मिक चित्र अंकित हैं, किन्तु वर्मा जी ने इन उपन्यासों में प्रधानतः बुन्देलखंड का इतिहास ही चित्रित किया है और बुन्देलखंड के इतिहास में तत्कालीन भारत का संघर्ष एवं द्वन्द्व भरा इतिहास अत्यन्त स्पष्ट रूप में आभासित हो उठा है। वर्मा जी ने दो प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, पहले प्रकार के वे हैं जिनका कथा-वस्तु इतिहास-सम्मत है और वातावरण भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत है, दूसरे प्रकार के वे है जिनकी कथा-वस्तु कल्पित है, किन्तु वातावरण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधृत है। 'गढ़ कुंडार', 'महारानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी' आदि पहले प्रकार के उपन्यास हैं और 'विराटा की पद्मिनी' आदि दूसरे प्रकार के उपन्यास हैं। जिन उपन्यासों के कथानक इतिहास-सम्मत हैं, उनके लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि उनका पूरा का पूरा कथानक इतिहास-सम्मत ही हो। लेखक अपनी रुचि एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अपने मूल कथानक के साथ ऐसे प्रासंगिक और अवान्तर कथानक भी जोड़ सकता है जो कथावस्तु की प्रभावमयता में सहायक हो और उसे आगे की ओर बढ़ाने में सफल सिद्ध हो सकें। 'मृगनयनी' की कथा-वस्तु के निर्माण में लेखक ने अनेक स्रोतों से सहारा ग्रहण किया है। राजा मानसिंह का कथानक इतिहास-सम्मत है। सिकन्दर लोदी, गयासुद्दीन खिलजी, नसीरुद्दीन खिलजी, महमूद बघर्रा, राजसिंह, मृगनयनी आदि पात्र इतिहास के आलोक में चित्रित किए गए हैं। प्रसिद्ध गायक बैजू बावरा का ऐतिहासिक काल निश्चयपूर्वक निर्धारित नहीं हो सकता है। उनके सम्बन्ध में किंवदन्तियों का ही आश्रय ग्रहण किया जा सकता है। बहुत से लोग उन्हें हरिदास स्वामी

का निधन और मानसिंह का समसामयिक मानते हैं। वर्मा जी ने किसी एक किवदन्ती के आधार पर उन्हें राजा मानसिंह का समकालीन माना है। मृगनयनी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियाँ एवं किंवदन्तियाँ बुन्देलखंड में प्रचलित हैं। वर्माजी ने उनका यथेष्ट उपयोग किया है और उन्हें रोचक तथा सजीव बनाने के लिए कुछ अवान्तर कथा-सूत्रों का भी सर्जन किया है, जिससे उपन्यास की कथा-भूमि अधिक मानिक हो सकी है। मृगनयनी की बाल्यावस्था के जीवन को अपनी कल्पना के पुट से उन्होंने अत्यधिक प्रभावशाली बना दिया है। अटल और लाखी लेखक की कल्पना की प्रसूति हैं और समग्र उपन्यास में उनके चरित्र रत्न के सदृश भास्वर हैं। यत्र-तत्र और भी लेखक की कल्पना के पात्र हैं, जिन सबको आधिकारिक कथा-सूत्र में पिरोकर लेखक ने अपने उपन्यास का निर्माण किया है। 'मृगनयनी' के कथानक में इतिहास, जन-श्रुति, किंवदन्ती और कल्पना का अद्भुत संयोग है। अतः इसे हम शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कह सकते। सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपन्यास इतिहास नहीं हो सकता और इतिहास उपन्यास नहीं हो सकता। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है : उपन्यास कल्पना-प्रसूत होता है और इतिहास तथ्यों का आकलन, व्यवस्थापन एवं पुनर्व्याख्यान होता है। उपन्यास में इतिहास सूक्ष्म तंतु के रूप में विद्यमान रहता है जिसे लेखक अपनी उर्वर कल्पना से रूपायित करता है, इंद्रधनुषी आभा प्रदान करता है; जबकि इतिहास आद्यन्त तथ्यों के सम्बल पर ही खड़ा रहता है, उनके आकलन, व्यवस्थापन एवं पुनर्व्याख्यान में इतिहासकार की कल्पना सहायक होती है। तथ्यात्मक होने के कारण इतिहास नीरस होता है और काल्पनिक होने के कारण उपन्यास सरस। अतः उपन्यास अपने मौलिक रूप में इतिहास नहीं हो सकता। 'मृगनयनी' में ऐतिहासिक तथ्य हैं, किन्तु तथ्यों को तथ्य-रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया है, वरन् तथ्यों के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को उभारने का सफल प्रयास है। लेखक की कथा का केन्द्रीय बिन्दु राजा मानसिंह है जिसके आधार पर पूरे इतिवृत्त का निर्माण हुआ है। उसकी कहानी प्रधानतः मृगनयनी की कहानी से सम्पुष्ट प्रधान कहानी है और अन्य इतिवृत्त—सिकंदर लोदी, महमूद बघर्रा, गयासुद्दीन खिलजी, राजसिंह आदि के कथा-वृत्त—या तो मूल कथा से सम्बद्ध हैं या तो मूल कथा के प्रवाह में सहायक हैं। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल कथा सूत्र में इनमें से कतिपय कथानक प्रत्यक्ष रूप में किसी प्रकार की सहायता नहीं पहुँचाते। प्रधान कथा-वस्तु की प्रभावमयता को यदि लेखक और अधिक सघन बनाना चाहता तो निश्चय ही वह अनावश्यक कथा-विस्तार न करता। सिकन्दर लोदी का कथानक मूल कथा-वस्तु से प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध है। लेखक उसे और अधिक

प्रभावशाली बना सकता था। गयासुद्दीन खिलजी और उसके पुत्र नसीरुद्दीन खिलजी के कथानक को अनावश्यक तूल दिया गया है और महमूद बघर्रा का कथानक यदि न रखा गया होता तो उपन्यास की कथा-भूमि को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचती। लेखक इतिहास के मोह में इस प्रकार ग्रस्त है कि इतिहास के अनावश्यक एवं नीरस तथ्यों की प्रस्तुति के लोभ का संवरण वह नहीं कर पाता। मूल कथा के प्रवाह में ऐसे अनावश्यक तथ्य विघातक सिद्ध हुए हैं।

निन्नी (मृगनयनी) और लाखी के आरम्भिक जीवन का समग्र वर्णन लेखक की कल्पना की प्रसूति है। ऐतिहासिक वातावरण में उसकी कल्पना ने पूरी कुशलता के साथ दोनों पात्रों का निर्माण किया है जो वस्तुतः बहुत ही स्वाभाविक बन पड़े हैं। पूरे उपन्यास में मूल कथा-वृत्त के साथ अचल, निन्नी और लाखी के जीवन-वृत्त का अंश अधिक प्रभावशाली और सुन्दर बन पड़ा है। कथा-वृत्त का प्रवाह कहीं पर भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। इसी कथा-वस्तु के साथ नटों की कथा-वस्तु भी सम्बद्ध है। यह बात हम स्वीकार करते हैं कि आधिकारिक कथा-वस्तु के विकास में इसका किंचित् योग अवश्य है और लाखी की चैतिक अशांति और अंतर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने में यह सहायक भी है, किन्तु इसमें कृत्रिमता अत्यधिक है। लाखी जैसी ओजस्वी पात्र नटों के कार्य-कलाप से इतना अभिभूत हो उठे कि उसकी निजी निश्चयात्मक वृत्ति कुंठित हो जाए और वह स्वयं अपने भविष्य का किसी रूप में निर्णय न कर सके, यह सब लाखी के चरित्र-विकास में विलय-सा प्रतीत होता है। खैर, अंत में लाखी और अटल को नटों के चंगुल से बचाकर लेखक ने दोनों पात्रों के चरित्र को धूमिल होने से बचा लिया है और लाखी के प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं अद्भुत शौर्य का वर्णन कर उसके चरित्र के औदात्य को सिद्ध कर दिया है। अटल और लाखी के जीवन के अंतिम चित्र प्रभावशाली हैं अवश्य, किन्तु एक बात खटकती है। क्या इस रूप में दोनों का अन्त दिखा देना आवश्यक रहा? क्या लेखक यहाँ भी लाखी के अद्भुत शौर्य को दिखाकर मानसिंह की सहसा उपस्थिति नहीं दिखा सकता था? ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी कथा-वस्तु को समेटने के लिए लेखक ने उन दोनों का शौर्यपूर्ण अंत अभीष्ट समझा।

विजय जंगम, वैष्णव पंडित, मजदूरों के नायक और बोधन का जो रूप मानसिंह के सामने प्रस्तुत किया गया है, वह राजकीय गरिमा के अनुरूप नहीं है। बोधन का लेखक ने राजा के सामने जो उद्धत रूप प्रदर्शित किया है, वह भी मध्यकालीन राजा की गरिमा के सर्वथा अननुकूल है और सिकंदर के दरबार में बोधन का शास्त्रार्थ और फलतः बोधन का प्राण-दंड लेखक की स्वनिर्मित पात्रों में पक्षपात-वृत्ति का द्योतक है। लेखक उसका अंत प्रभावशाली ढंग से भी दिखा सकता था।

बैजू बावरा इतिहास का विवादास्पद पात्र है। लेखक ने जन-श्रुति के आधार

आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है। उस समय का हिन्दू कितना निस्सहाय था। कोई भी उसका सहायक नहीं था। धर्म के व्याख्याता पंडित और पुरोहित अपनी असहायावस्था में मौन थे, राजपूत पारस्परिक विद्वेष और ईर्ष्या के अनल में आपाद-शीर्ष जल रहे थे, सामान्य जन आपद्धर्म का भी पालन नहीं कर रहा था, वर्णाश्रम की अवस्था और भी विकट हो गई थी, अपने भी पराए होते जा रहे थे, साधु-संन्यासी परम तत्त्व की खोज में स्व-धर्म से विच्युत थे। उस समय ऐसा कोई नहीं था जो निराश, आत्म-केन्द्रित हिन्दू जाति के कर्ण-कुहर में जागरण का शंख-नाद फूंक सकता, उस समय ऐसा कोई नहीं था जो हिन्दू जाति की संकुचित वृत्ति को अपनी प्ररोचना के बल पर परिष्कृत कर महान् सामाजिक भावना के रूप में परिणत कर सकता। वस्तुतः निराश, कुंठित, हताश जाति के लिए शौर्यपूर्ण नेतृत्व अपेक्षित होता है। राजा मानसिंह में उस नेतृत्व का आभास मिलता है। किन्तु उस युग में, जबकि चतुर्दिक् शोषण झंझा का प्रलयकारी तहाड्व नर्तन हो रहा था, जबकि चतुर्दिक् पारस्परिक विद्वेष की सुलगती हुई अग्नि से गगनमंडल धूमायित था; जबकि विजातीय धर्म और संस्कृति अपनी प्रखर धार में हिन्दुत्व को कुंठित किए जा रही थी, राजा मानसिंह का उदय उल्का पिंड के समान ही प्रतीत होता है जो अपने आस-पास के वातावरण को देदीप्यमान करता हुआ अंततः अस्तमित हो गया।

उपन्यासकार जिस जीवन का चित्रण करता है, उसमें विस्तार अधिक होता है, व्यापकता अधिक होती है, फलतः गाम्भीर्य नहीं होता। महाकाव्य में भी विस्तार और व्यापकता होती है, किन्तु इसके साथ ही गाम्भीर्य भी होता है। यही सबसे बड़ा अन्तर है उपन्यास और महाकाव्य में। महाकाव्य में सांस्कृतिक चेतना अधिक मुखर रहती है, किन्तु उपन्यास में सामान्यतः उसका बाह्य पक्ष ही अधिक रहता है। जिस उपन्यास में बाह्य के साथ आंतरिक पक्ष की भी अभिव्यक्ति होगी, उसमें विस्तार अधिक होगा, कथा-वस्तु का निर्बंध प्रवाह नहीं होगा। सामाजिक उपन्यासों में तॉलस्तॉय का 'युद्ध और शान्ति' और ऐतिहासिक उपन्यासों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का

रहे हैं जो सांस्कृतिक चेतना के अच्छे माध्यम हो सकते थे, किन्तु वर्मा जी ऊपरी स्तर की सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त कर उसकी गहराई में जाने से विरत हो गए। फलस्वरूप उपन्यास की सहजता बनी रही। सामान्य स्थिति में यह भी देखा जाता है कि जब कोई लेखक सांस्कृतिक धरातल की गहराई में जाता है तो उसकी रचना दुरूह हो जाती है और कथानक की अन्विति भी बाधक हो जाती है। वर्मा जी ने इस प्रकार दोनों प्रकार के दोषों से अपनी रचना को बचा लिया है और सांस्कृतिक चेतना और धारा को जिस रूप में प्रवाहित किया है, वह अपनी स्वभाविकता के कारण वरेण्य है।

'मृगनयनी' मे पात्रों की विविधता है। पुरुष पात्रों मे राजा मानसिंह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वह शौर्य का प्रतीक है, किन्तु सहिष्णु और क्षमाशील है। उसमें पौरुष है और औदार्य भी है, दृढ़ता है और परदुःखकातरता भी है। वह बुद्धिमान् और कूटनीति परायण है। धर्म में उसकी सहज आस्था है, किन्तु रूढ़ि और परम्परा को कसकर पकड़ने वाला नहीं है। जाति-पाँति के जटिल बन्धन के प्रति उसके मन में उपेक्षा-भाव है। कला के प्रति उसके मन मे सहज आकर्षण है। कला में निमग्न होकर कभी-कभी कर्त्तव्य-पथ से भी विचलित-सा हो जाता है। उस समय मृगनयनी उसकी सहज प्रेरणा बन जाती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मानसिंह में अनेक प्रकार के गुण विद्यमान हैं। वह शौर्य का जीवन्त प्रतीक होते हुए भी क्षमाशील है। इसी कारण कला को क्षमा कर देता है। उसमे सबसे बड़ा गुण है प्रजावत्सलता। चाहे युद्ध का समय हो चाहे शान्ति का समय हो उसे सर्वदा अपनी प्रजा के मंगल और कल्याण का ध्यान रहता है और सभी वर्ग के प्रजा-जन को समान दृष्टि से देखता है। मृगनयनी प्रेरणा-स्रोत बनकर उसके प्रत्येक कार्य मे सहायक सिद्ध होती है।

पुरुष पात्रों मे विजयजंगम अपनी श्रम की उपासना और कला की आराधना के कारण उल्लेख्य है। बैजू बावरा का भी चरित्र-निर्माण लेखक ने सावधानी से किया है। अटल का पात्र उतना सहज और महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका है, जितना उसकी बहन निन्नी (मृगनयनी) का। निहाल सिंह के अद्भुत शौर्य और पराक्रम के चित्रण में लेखक को अच्छी सफलता मिली है। राजसिंह के मिथ्या अहं और थोथे स्वाभिमान को बहुत ही स्वाभाविक रूप मे चित्रित किया गया है। महमूद बघर्रा का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत किया गया है। गयासुद्दीन और नसीरुद्दीन की दुर्बलताओं को लेखक बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ दिखा सका है। समस्त पुरुष पात्रों को मानसिंह अपने गौरव और औदार्य से ढक लेता है।

नारी पात्रों में मृगनयनी का चरित्र देदीप्यमान रत्न के समान है। बचपन से लेकर जीवन की अन्तिम अवधि तक उसका चरित्र अत्यन्त महनीय और उदात्त है। 'बचपन से अपने भाई अटल को ... में विषमावस्था में भी यह गुण, शान्ति ...

दर्शित कर देती है। लाखी के आश्चर्य में व असीम उत्साह के साथ अपना समग्र समर्पण कर देती है, कभी-कभी लाखी में ईर्ष्या-जनित व्यवहार भी कर बैठती है, कभी-कभी किंचित् सङ्कुचित वृत्ति का भी परिचय दे देती है, किन्तु कुछ देर में वह कुछ भूल जाती है और लाखी के प्रति पूरी आत्मीयता से अपना स्नेह प्रकट करती है। बड़ी भी तड़क-भड़क की वस्तुओं को देखकर उसे अधिक आश्चर्य या मोह नहीं होता, जबकि लाखी आश्चर्य-चकित और मुग्ध हो जाती है। राजा मानसिंह के प्रेम को स्वीकार कर उसके हाथ में अपना हाथ देकर उसने कहा था—'मैं नहीं जानती क्या कर रही हूँ। मेरी पत रखना।' एक अकिंचन को राजरानी का पद मिला, वह गर्वोन्नत नहीं हुई, उसे आत्म-मर्यादा का ही ध्यान रहा और लाखी से विलग होते समय वह कितना कितना रोई थी! नारीत्व का यह कितना स्वाभाविक चित्रण है।

मृगनयनी में सौंदर्य, शील और शक्ति तीनों का समन्वित रूप है। वह इतनी सुन्दर है कि उसे एक बार जो देख ले वह विस्मित-विमुग्ध होकर उसे देखता ही रह जाए और शील का तो वह जीवन्त विग्रह है। उसके शौर्य को देखकर तो दर्शक आश्चर्य चकित हो उठता है। सौंदर्य में ऐसी शक्ति मानो दुर्गा का साक्षात् अवतार! राजरानी के रूप में प्रतिष्ठित होने पर वह अपनी स्थिति अत्यन्त स्वाभाविक रूप में स्वीकार कर लेती है। अपनी सपत्नियों को सापत्न्य भाव से नहीं अपनाती, वरन् उनके प्रति अपना निश्छल प्रेम-भाव प्रदर्शित करती है। सुमनमोहिनी ने अनेक प्रकार से, अनेक रूपों में उसे अपमानित करने का प्रयत्न किया, उसे विष तक देने का प्रयत्न किया, किन्तु मृगनयनी ने कभी भी प्रतिकार की भावना नहीं दिखाई। उसकी स्थिति इतनी दृढ़ थी कि वह सुमनमोहिनी से सहज भाव से प्रतिकार ले सकती थी, पर अपनी उदारता और सहज मानवीय भावना के कारण उसने उसे हर बार क्षमा कर दिया।

लाखी से वियुक्त होने पर वह बहुत अधिक विक्षुब्ध हो उठी थी, उसी लाखी को अपने निकट पाकर वह हुलसित हो उठी थी और उसे अपने साथ इतने प्रेम के साथ रखा था कि लाखी को स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं हो सकती थी कि मृगनयनी रानी है और वह एक सामान्य नारी। लाखी और अपने भाई की मृत्यु का समाचार उसके लिए वज्र-निपात-सा ही था, तथापि विपत्ति की स्थिति में राजा के शक्ति-सन्तुलन को बनाए रखने के लिए उसने धैर्य धारण किया।

वह कला की उपासिका है। राजा की पत्नी, प्रेरणा एवं शक्ति है। वह राजा को कर्तव्य पथ पर बढ़ने के लिए निरंतर प्रोत्साहित करती रहती है। जब कभी राजा में किसी प्रकार की शिथिलता प्रतिभासित होती है, वह उनके शरीर में और मन में नव ऊर्जा उत्पन्न कर देती है। वह आत्म-सुख ही सब कुछ नहीं समझती। उसे सेवा में, प्रजा-जन के सुख में यथार्थतः सुख की अनुभूति होती है। वह चाहती है कि वीणा के

सार भी मंकृत होते रहें, मंदिरों में घंटा निनादित होते रहें और प्रतिवार युद्ध की स्थिति में रण-भेरी का निनाद दूर-वीरों को कर्संव्य-पाठ का बोध भी देता रहे। उसकी अंतिम अभिलाषा भी प्रजा का सुख और देश की स्वाधीनता। देश की स्वाधीनता और प्रजा के सुख में ही उसका सच्चा सुख निहित है। इतिहास के पृष्ठों पर वस्तुतः ऐसा ओजस्वी नारी-पात्र सुदुर्लभ है।

लाखी के चरित्र-निर्माण में भी लेखक ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। निन्नी उसकी सखी है। उसके साथ रहने में, शिकार खेलने में उसे आनन्द का अनुभव होता है। अटल के प्रति उसके मन में आकर्षण उत्पन्न होता है और अटल के कहने पर वह प्रतिश्रुत हो जाती है। माँ के आकस्मिक निधन के कारण वह खिन्न हो जाती है और सभी प्रकार से अटल और निन्नी के आश्रित हो जाती है। नटों की चमक-दमक, उनके वस्त्रालंकार आदि को देखकर उसका चित्त चंचल हो जाता है, फिर भी वह अपने चित्त को संयत कर लेती है। निन्नी के समान ही अपने लक्ष्य-भेद में प्रवीण है और कई बार अपने शौर्य का प्रदर्शन भी कर चुकी है। जब निन्नी रानी हो जाती है तो उसके मन में उसके प्रति रंचमात्र भी ईर्ष्या जागृत नहीं होती; किन्तु वह निन्नी के पास इसलिए नहीं जाना चाहती कि कहीं उसे निन्नी की चेरी न बनना पड़े। उसमें नारी-सुलभ स्वाभिमान है, किन्तु निन्नी के इतने निकट होते हुए भी वह उसके स्वभाव की विशालता को न समझ सकी। उसमें दृढ़ता एवं यथेष्ट साहस है। वह नटों के साथ जाने के लिए तत्पर हो जाती है। वह जातीय अवमानना को सहन करने के लिए तैयार नहीं और साथ ही अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपनी निन्नी के पास भी जाना रुचिकर नहीं समझती। वह स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करना चाहती है। मगरोनी में पहुँचने पर जब उसे गयासुद्दीन के आक्रमण का समाचार मिलता है, वह क्षण मात्र के लिए विचलित हो उठती है और पिल्ली के षड्यन्त्र की बात जानकर मन ही मन निश्चय कर लेती है, किन्तु अटल को नटों की दुरभिसन्धि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताती, क्योंकि वह उस विषम परिस्थिति से सुरीत्या परिचित है और जानती है कि अटल से कह देने पर स्थिति और भी जटिल हो जाएगी, वह विवेक से काम नहीं ले सकेगा। नरवर के किले में जाने के लिए उतावली हो जाती है, किन्तु नटों के जाल से सरलता से बच नहीं पाती। फिर भी वह परिस्थिति को अपने वश से जाने नहीं देती। पिल्ली के सामने अपनी कृत्रिम विवशता का परिचय देकर उसके समस्त रहस्य को जान लेती है और मन ही मन अपना करणीय निर्धारित कर लेती है, किन्तु इस स्थिति में भी अटल को परिस्थिति की अवगति नहीं होने देती। पाठकों को उसके ऊपरी व्यवहार को देखकर आश्चर्य होता है, किन्तु लेखक की योजना में उसका दृढ़ निश्चय अंतर्निहित है। समस्त नटों के उतर जाने पर पिल्ली के उतरते

इन पात्रों के [illegible] मृगनयनी [illegible] और कला के पात्रों को भी लेखक ने उभारा है। मृगनयनी [illegible] और प्रेम के कारण [illegible] स्वभाव की नारी है। वह [illegible] में ही रत रहती है। कला की एक विशिष्ट भूमिका है। वह राजसिंह के [illegible] करती है किन्तु [illegible] के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं होती [illegible] और [illegible] को मृगनयनी द्वारा वर्जित देखकर और राजसिंह को विवश पाकर [illegible] हो जाती है। वह कला की उपासिका है। इस कारण कला का निरन्तर तिरस्कार देखकर उसका हृदय आन्दोलित हो उठता है। उक्त समस्त नारी-पात्रों में मृगनयनी और लाखी दोनों ही लेखक की अनुपम सृष्टि हैं।

'मृगनयनी' के माध्यम से वर्मा जी ने मध्यकालीन भारत, प्रधानतः बुन्देलखंड का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन चित्रित करने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अतीत में कोई समाते समय भी अपनी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित रखता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह अतीत वर्तमान से ही परिचालित होकर अतीत के गर्भ में उतरता है। राष्ट्रीय आदर्श एवं सब आचरण को और तीव्रता से प्रोत्तेजित करने के उद्देश्य से ही वर्मा जी ने राजा मानसिंह और मृगनयनी के आख्यान का पुनराख्यान और व्याख्यान प्रस्तुत किया है। मानसिंह और मृगनयनी के जीवन-वृत्त एवं क्रिया-कलाप से राष्ट्रीय चेतना के एक सुन्दर रूप का आभास मिलता है और देश-भक्ति की दृढ़ भित्ति प्राप्त हो जाती है।

इस उपन्यास की शैली सहज है और भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है। आंचलिक शब्दों का सटीक प्रयोग बुन्देलखंडी जन-जीवन को सजीव कर देता है। वर्मा जी ने

दिव्या

'दिव्या' यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक ने इस उपन्यास मे बौद्ध कालीन जीवन का काल्पनिक चित्र अंकित किया है। लेखक के ही शब्दों मे 'दिव्या' इतिहास नही, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र मे ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है। तत्कालीन जीवन का इतिहास-पृष्ठ धूमिल है। इसी कारण लेखक को बहुत-कुछ कल्पना के सहारे ही आगे बढ़ना पडा है। वस्तुतः इस ऐतिहासिक उपन्यास का मूल उद्देश्य तत्कालीन जीवन के रूप-चित्र के माध्यम से भारत के अतीत गौरवमय इतिहास का शब्द-चित्र प्रस्तुत करना है। सतत परिवर्तनशील जीवन मे मानवता के विकास को ध्यान मे रख कर ही लेखक ने इस ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की है। वर्तमान जीवन की कटुता से पलायन इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है, वरन् अतीत के जीवन को चित्रित कर लेखक ने मानवता के भावी विकास की ओर संकेत किया है। उसे यह विश्वास है कि मानवता समस्त परिवर्तनो के मध्य विकसित होती रहेगी। उसके विकास-पथ मे आने वाले समस्त अन्तराय स्वयमेव दूरीभूत हो जाएँगे।

यशपाल जी यथार्थवादी लेखक हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में मार्क्सीय सिद्धांत-पक्ष को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक के सामने सदा ही यह जटिल समस्या रहती है कि वह अतीत जीवन को चित्रित करते समय वर्तमान जीवन की समस्याओं एवं सिद्धांत-पक्ष को किस रूप मे प्रस्तुत करे, जिससे उनका सहज-स्वाभाविक विकास रचना के मध्य से ही प्रस्फुटित होता हुआ प्रतीत हो; क्योंकि आरोपण का खतरा सदा ही विद्यमान रहता है। यशपाल जी ने इस रचना में विशेष सावधानी के साथ अपने सिद्धान्त-पक्ष को रखा है। इस कारण कहीं पर भी सहज स्वाभाविक विकास प्रतिरुद्ध प्रतीत नही होता। उपन्यास की मूल समस्या के रूप में वर्ग-संघर्ष और अभिशप्त नारी-जीवन को लिया गया है। मद्र गणराज्य के सामाजिक

जीवन को उसकी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों के साथ अंकित किया गया है। धार्मिक प्रवृत्तियों ने जन-सामान्य के जीवन को किस रूप में प्रभावित किया था, इसका अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण उपन्यासकार ने किया है। एक ओर वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की छटपटाहट का व्यक्तीकरण है और दूसरी ओर बौद्ध धर्म की छत्र-छाया में निखिल मानवता को समरूप देखने की चेष्टा की अभिव्यक्ति है। मद्र के शासन-तन्त्र में भी इन्हीं धार्मिक भावनाओं के प्राधान्य के कारण आंतरिक अव्यवस्था दृष्टिगत होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की व्यग्रता रुद्रधीर और उसके सहयोगियों में परिलक्षित होती है, किन्तु प्रारंभ में मद्र की शासन-व्यवस्था के कारण उन सबको अपने मुँह की खानी पड़ती है और पृथुसेन को वर्ण के आधार पर अपमानित-तिरस्कृत करने के कारण रुद्रधीर को देश-निष्कासन का दंड भोगना पड़ता है। दूसरी ओर बौद्ध धर्म को राजकीय संश्रय प्राप्त होने के कारण सारी धार्मिक व्यवस्था का कुछ दूसरा रूप ही ऊपर-ऊपर से प्रतिभासित होता है, परन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था के अग्रदूतों की भावना धूमायित होते हुए भी विलीन नहीं हो पाती, वरन् भीतर ही भीतर वह और अधिक शक्ति का संचय कर ऐसा उग्र रूप धारण कर लेती है कि उसकी लेलिह्यमान जिह्वा राजव्यवस्था को भी आत्मसात् कर लेती है। पृथुसेन आदि जो अपनी शक्ति और धन शक्ति के कारण आगे बढ़ गए थे, धकेल दिए जाते हैं और जन्म की शक्ति को महत्त्व प्रदान करने वाली वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठित हो उठती है। लेखक ने पूरी कुशलता के साथ धार्मिक संघर्ष को रूपायित किया है और मानव-श्रेष्ठता के इस झूठे आधार को उपहास्य सिद्ध किया है। मानव अपने महीयान कर्म से महान् बनता है, जन्म से नहीं, किन्तु तत्कालीन भारत में जन्म का पलड़ा ही भारी था। यशपाल जी ने उसके खोखलेपन को प्रतिपादित करते हुए उस पर तीव्र प्रहार किया है और यह सिद्ध किया है कि दैवायत्त जन्म स्वायत्त कर्म के महत्त्व को परिम्लान नहीं कर सकता।

इस उपन्यास की कथा-वस्तु का केन्द्र-बिन्दु दिव्या है। लेखक ने समस्त परिस्थितियों को इस रूप में अंकित किया है कि प्रत्यक्ष रूप या अप्रत्यक्ष में वे दिव्या के जीवन से सम्बद्ध हैं। उपन्यास के कथानक के आरंभ में भी और अंत में भी लेखक ने जाति और धर्म की व्यवस्था पर प्रहार किया है। आरम्भ में पृथुसेन को दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने का अधिकार इसलिए नहीं है कि दिव्या ब्राह्मण कुलोद्भव है और पृथुसेन दास-पुत्र। उपन्यास की यही मूल समस्या बन जाती है और इसी कारण दिव्या को प्रवंचना का शिकार होना पड़ता है और उसका सारा जीवन विपर्यस्त हो जाता है। अन्त में पुनः दिव्या के जीवन को विलुलित प्रकम्पित बनाने में धर्म-व्यवस्था का ही हाथ है। ब्राह्मण कुल में उसकी उत्पत्ति उसके लिए अभिशाप सिद्ध होती है : वह

राजनर्तकी के पद को भी अलंकृत नहीं कर सकती। जितने धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हैं वे सब के सब दिव्या के मूल कथानक की ओर ही अभिसरण करते हैं। उपन्यास का कथानक काल्पनिक ही है। इसमें ऐतिहासिकता केवल इतनी है कि इसका सारा वातावरण और परिवेश ऐतिहासिक आधार पर अंकित किया गया है। वातावरण-निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का संघर्ष अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सका है।

दिव्या के चरित्र को लेखक ने विभिन्न परिस्थितियों में अंकित कर उसे बहुत कुछ गत्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। वह अभिजात कुमारिका है। उसके मन में पृथुसेन के व्यक्तित्व के प्रति सहज आकर्षण उद्भूत हो उठता है। वह जानती है कि पृथुसेन दास-पुत्र है और दास-पुत्र तथा ब्राह्मण कन्या का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक आधार पर विहित नहीं है, परन्तु उसका मन इन सब पर विचार नहीं कर पाता। वह उसके आकर्षक व्यक्तित्व और अप्रतिहत शौर्य पर विमुग्ध हो अपना सर्वस्व उसे अर्पण कर देती है। उसका सारा आत्म-समर्पण अविचारित है। परिणाम की चिन्तना उसे बाधित नहीं कर पाती। किन्तु दासपुत्र पृथुसेन उसकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाता। परिस्थितियों के किंचित् परिवर्तन के कारण वह यह भूल जाता है कि जिसने अनाविल हृदय से उसका विश्वास किया था और उसे अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, उसके प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य है। आत्मोन्नति के लिए वह अपने पिता के इंगित और विचार को अधिक महत्त्व देता है तथा सीरो को इस कारण अपना लेता है कि उसके माध्यम से वह अधिक से अधिक विकास कर सकता है। जिस दिव्या ने उसे जीवन की प्रेरणा प्रदान की थी, जिस दिव्या ने उसके शक्ति-साहस को पालित किया था, उसे वह विस्मृत कर बैठता है। प्रवंचित स्तम्भित दिव्या स्वयं उसके यहाँ आश्रय पाने जाती है, पर उसमें इतनी शक्ति नहीं, इतना साहस नहीं कि वह सीरो के प्रभाव और आतंक से बाहर निकल कर उसके लिए कुछ कर सके। जिस दिव्या का स्वाभिमान इतना प्रबल रहा है कि उसने रुद्रधीर के साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को इस कारण अस्वीकार कर दिया था कि रुद्रधीर के गृह में उसे सपत्नी-भाव को अपनाना पड़ता, वही पृथुसेन के यहाँ सीरो की सपत्नी बनाने के लिए भी तत्पर थी; परन्तु इतना होने पर भी वह जिस पुरुष का आश्रय चाहती थी, जिसके अंश को अपने भीतर सोल्लास धारण किए हुए थी, उसे पा न सकी। जिसका उसने सहज विश्वास किया था, उसने ही उसके जीवन पर इतना उग्र प्रहार किया कि वह किसी भी रूप में अपने भार को सन्तुलित न रख सकी और परिस्थितियों ने उसे इस रूप में विवश और कर्तव्य-मूढ़ बना दिया कि उसने परिणामों पर विचार किए बिना जीवन सरिता की धारा में अपने भार को उत्क्षिप्त कर दिया।

जीवन को उसकी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों के साथ अंकित किया गया है। धार्मिक प्रवृत्तियों ने जन-सामान्य के जीवन को किस रूप में प्रभावित किया था, इसका अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण उपन्यासकार ने किया है। एक ओर वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की छटपटाहट का व्यक्तीकरण है और दूसरी ओर बौद्ध धर्म की छत्र-छाया में निखिल मानवता को समरूप देखने की चेष्टा की अभिव्यक्ति है। मद्र के शासन-तंत्र में भी इन्हीं धार्मिक भावनाओं के प्राधान्य के कारण आंतरिक अव्यवस्था दृष्टिगत होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की व्यग्रता रुद्रधीर और उसके सहयोगियों में परिलक्षित होती है, किन्तु आरंभ में मद्र की शासन-व्यवस्था के कारण उन सबको अपने मुँह की खानी पड़ती है और पृथुसेन को वर्ण के आधार पर अपमानित-तिरस्कृत करने के कारण रुद्रधीर को देश-निष्कासन का दंड भोगना पड़ता है। दूसरी ओर बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के कारण सारी धार्मिक व्यवस्था का कुछ दूसरा रूप ही ऊपर-ऊपर से प्रतिभासित होता है, परन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थकों की भावनाएँ धूमायित होते हुए भी विलीन नहीं हो पातीं, वरन् भीतर ही भीतर बल और अधिक शक्ति का संचय कर ऐसा उग्र रूप धारण कर लेती हैं कि उसकी [illegible] राजव्यवस्था को भी आत्मसात् कर लेती है। पृथुसेन आदि जो अपनी शक्ति और [illegible] शक्ति के कारण आगे बढ़ गए थे, ध्वंस किए जाते हैं और जन्म की शक्ति को महत्त्व प्रदान करने वाली वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः प्रतिष्ठित हो उठती है। लेखक ने पूरी कुशलता के साथ धार्मिक संघर्ष को स्थापित किया है और मानव-श्रेष्ठता के इस झूठे आधार को उपहास्य सिद्ध किया है। मानव अपने सदाचार कर्म से महान् बनता है, जन्म से नहीं, किन्तु तत्कालीन भारत में जन्म का महत्त्व ही भारी था। यशपाल जी ने उसी खोखलेपन को प्रतिपादित करते हुए उस पर तीव्र प्रहार किया है और यह सिद्ध किया है कि [illegible] कर सकता।

इस उपन्यास की कथा-वस्तु का केन्द्र-बिन्दु [illegible] है। लेखक ने [illegible] परिस्थितियों को इस रूप में अंकित किया है कि [illegible] के जीवन से सम्बद्ध हैं। उपन्यास के [illegible] के आरंभ में भी और अंत में भी लेखक ने [illegible] और धर्म की व्यवस्था पर प्रहार किया है। आरंभ में पृथुसेन को [illegible] है [illegible] इसलिए नहीं है कि [illegible] है और [illegible]। [illegible] है और [illegible] है और [illegible] है। [illegible] के जीवन को [illegible] धर्म-व्यवस्था का ही [illegible] है। [illegible] उसके लिए [illegible] सिद्ध होती है। [illegible]

राजनर्तकी के पद को भी अलंकृत नहीं कर सकती। जितने धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष हैं वे सब के सब दिव्या के मूल कथानक की ओर ही अभिसरण करते हैं। उपन्यास का कथानक काल्पनिक ही है। इसमें ऐतिहासिकता केवल इतनी है कि इसका सारा वातावरण और परिवेश ऐतिहासिक आधार पर अंकित किया गया है। वातावरण-निर्माण में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का संघर्ष अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सका है।

दिव्या के चरित्र को लेखक ने विभिन्न परिस्थितियों में अंकित कर उसे बहुत कुछ गत्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। वह अभिजात कुमारिका है। उसके मन में पृथुसेन के व्यक्तित्व के प्रति सहज आकर्षण उद्भूत हो उठता है। वह जानती है कि पृथुसेन दास-पुत्र है और दास-पुत्र तथा ब्राह्मण कन्या का सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक आधार पर विहित नहीं है, परन्तु उसका मन इन सब पर विचार नहीं कर पाता। वह उसके आकर्षक व्यक्तित्व और अप्रतिहत शौर्य पर विमुग्ध हो अपना सर्वस्व उसे अर्पण कर देती है। उसका सारा आत्म-समर्पण अविचारित है। परिणाम की चिन्तना उसे बाधित नहीं कर पाती। किन्तु दासपुत्र पृथुसेन उसकी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाता। परिस्थितियों के किंचित् परिवर्तन के कारण वह यह भूल जाता है कि जिसने अनाविल हृदय से उसका विश्वास किया था और उसे अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, उसके प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य है। आत्मोन्नति के लिए वह अपने पिता के इंगित और विचार को अधिक महत्त्व देता है तथा सीरो को इस कारण अपना लेता है कि उसके माध्यम से वह अधिक से अधिक विकास कर सकता है। जिस दिव्या ने उसे जीवन की प्रेरणा प्रदान की थी, जिस दिव्या ने उसके शक्ति-साहस को शाणित किया था, उसे वह विस्मृत कर बैठता है। अवचित स्तम्भित दिव्या स्वयं उसके यहाँ आश्रय पाने जाती है, पर उसमें इतनी शक्ति नहीं, इतना साहस नहीं कि वह सीरो के प्रभाव और आतंक से बाहर निकल कर उसके लिए कुछ कर सके। जिस दिव्या का स्वाभिमान इतना प्रबल रहा है कि उसने रुद्रधीर के साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को इस कारण अस्वीकार [illegible] र के गृह में उसे दासी-भाव को अपनाना पड़ता, [illegible] ने के

संयोग रूप में पतित दिव्या जीवन-सरिता की धारा में अपने आपको उत्क्षिप्त कर यह अनुभव कर सकी कि जीवन किस प्रकार दारुण और कंटक-संकुल है और नारी सामाजिक संरचना में कितनी दुर्बल और अशक्त है। दासी के रूप में उसने जीवन की कटुता को देखा ही नहीं, वरन् पूर्णरूप से अनुभव किया। अतः प्रसूता दिव्या अपने पुत्र शाकुल को क्षुधित-शुष्कित देखती रह जाती और उसके स्तन का सारा दूध द्विज-पुत्र गटक ले जाता, जिसके लिए वह क्रीत की गई थी। अपने पुत्र के जीवन को बचाने के लिए उसने सारे प्रयत्न किए, यहाँ तक कि बौद्ध-विहार में भी प्रश्रय प्राप्त करने की कोशिश की। परन्तु दासी होने के कारण उसे प्रश्रय न प्राप्त हो सका। बौद्ध-विहार में उसे यह कटु अनुभव हुआ कि दासी वेश्या की तुलना में भी तुच्छ है। दासी दासी होती है, उसका कोई स्वामी होता है; जबकि वेश्या स्वतन्त्र नारी होती है। अपने पुत्र को बचाने के लिए वह कुछ भी कर सकती थी, वेश्या भी बन सकती थी, वेश्या बनने का संकल्प भी उसने कर लिया था; किन्तु यमुना-तट पर ब्राह्मण (उसका स्वामी) को देख और उसकी पुकार सुन उसने व्याकुल हो यमुना में पुत्र-सहित आत्म-निक्षेप कर दिया। जिस पुत्र की रक्षा के लिए वह सब कुछ कर सकती थी, उस पुत्र को खोकर वह रत्न प्रभा की सहेली और अत्यन्त अंतरंग अंशुमाला के रूप में लोगों के सामने आविर्भूत हुई। दिव्या ने अंशुमाला के रूप में सब कुछ पाया : अतुल धन और यश, रत्न प्रभा का स्नेह और अभिजात वर्ग का प्रशंसा-भाव, किन्तु उसके पुत्र का अभाव उसके मन में निरन्तर दरकता रहा। वस्तुतः उसने अपना सर्वस्व खोकर यह सब प्राप्त किया था। यही कारण है कि उसकी प्रशंसा करने वाला अभिजात वर्ग उसको प्रेम-माधुरी न पाकर उसे काष्ठ-पुत्तलिका-मात्र समझने लगा था। वस्तुतः पत्नी-रूप मे तिरस्कृत एवं मातृ-रूप में लांछित दिव्या कला-उपासिका-मात्र रह गई थी। वह कटुता से यह अनुभव कर सकी थी कि नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह पुरुष की भोग्या-मात्र है, भोग का उपादान है। उसके कानों मे बार-बार मारिश का यह कथन गूँज उठता था—'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार-मात्र है जो नारी मे सृष्टि की आदि शक्ति है।' कला-उपासना मे तत्पर होते हुए भी वह यह नहीं भूल पाती थी कि उसका सारा सौंदर्य, सारी कला-साधना नारीत्व का आकर्षण मात्र है, जिसकी चरम सिद्धि मातृत्व मे निहित है, किन्तु उसका मातृत्व वन्ध्य सिद्ध हो गया था, उसका पत्नीत्व अभिशप्त हो गया था। फलतः वह कला की पुत्तलिका-मात्र रह गई थी। अनेक संभ्रात पुरुषों के आकर्षण और प्रेम-निवेदन को वह ठुकरा चुकी थी, क्योंकि पुरुष की भ्रमर-वृत्ति ने उसे प्रवंचित किया था। उसका सारा मनोविज्ञान प्रवंचित और हारे हुए का मनोविज्ञान था। यही कारण है कि वह मारिश के सहज, निश्छल प्रेम-निवेदन को भी स्वीकार न कर सकी।

ला-उपासना में निरत दिव्या (अंशुमाला) की कीर्ति-सुरभि मागध में
बिखरा देती है पास तक भी पहुँची और वह अपनी शिष्या रत्नप्रभा से उसे माँग
ई। उसका अभिप्राय था उसे राजनर्तकी के पद पर प्रतिष्ठित करना, पर वर्णाश्रम
यवस्था पुनः दिव्या के मार्ग में आया। वह राजनर्तकी पद पर अभिषिक्त न हो सकी
ौर पुनः शासन छोड़ने के लिए विवश हुई। उसे पहली बार शासन छोड़ने के लिए
ववश होना पड़ा था लोक-लज्जा के कारण, परन्तु इस बार आत्म-सम्मान ने उसे
छोड़ने के लिए विवश किया। पहली बार अपनी मातृतुल्या दासी के साथ पांथशाला
ा मार्ग खोजते-खोजते भटक गई थी, किन्तु इस बार उसमें इतना दृढ़ विश्वास
ौर इतना अहंभाव था कि उसने सहज रूप में ही पांथशाला का मार्ग पूछ लिया था
ौर जन-मेदिनी उसकी अनुगता था। पहली बार वह छिन्नमूला और हतभागिनी
ी, पर दूसरी बार उसका आत्म-बल उसका सम्बल था। अनुभव ने उसे परिपक्व
ना दिया था। और पांथशाला में वर्णाश्रम व्यवस्था के अधिष्ठाता ने जब उससे
उसका हाथ माँगा तो वह स्वीकार न कर सकी, क्योंकि वह जानती थी कि आचार्य
ी पत्नी हो जाने पर वह स्वातन्त्र्य-भावना से वंचित हो जाएगी। चीवरधारी पृथुसेन
ा धर्म की शरण आने का आह्वान उसे रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि जीवन से
पलायन को वह धर्म नहीं मानती थी और धर्म का आडम्बर बौद्ध-विहार की उस
घटना के कारण उसकी आँखों के सामने नाच उठा, जिसने उसे विवश-आर्त बना
दिया था, जिसके कारण वह अपने पुत्र से वंचित हुई थी और जिससे उसे यह बोध
हुआ था कि वेश्या स्वतन्त्र नारी होती है। इसके साथ ही वह यह बात भी नहीं भूली
थी कि पृथुसेन ने उसे कितनी निष्ठुरता के साथ प्रताड़ित किया था। वह अन्त में
मारिश को अपना सकी, क्योंकि वह सुख-दुःख की अनुभूति के आदान-प्रदान में
विश्वास करती थी और ऐसा करने के लिए मारिश तत्पर था। वह पुरुषत्व का
अर्पण चाहती थी और नारीत्व को अर्पित करना चाहती है। आरम्भ की भीरु दिव्या
अन्त में आकर प्रगल्भ हो जाती है और उसका आत्म-विश्वास उसे मार्ग अन्वेषित
करने में सहायता देता है। चारित्रिक विकास की दृष्टि से दिव्या का पात्र बहुत ही
सफल है।

दिव्या से ठीक विपरीत पात्र है सीरो का जो अपने समग्र रूप में छल-प्रपंच
के कर्दम में सनी हुई प्रतीत होती है। सत्ता ही उसके जीवन का लक्ष्य है और भोग
ही उसकी अभिलाषा है। इन दोनों की प्राप्ति के लिए वह कुछ भी कर सकती है।
उसके पास न तो कोई आदर्श है और न तो कोई आचार-विचार। पुरुष रूपी खूँटे में
बँधकर रहना वह नारी की दुर्बलता समझती है। जिससे भी तृप्ति मिल जाए, उसी की
ओर अभिमुख हो जाने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। मल्लिका

संभ्रांत कुल में पालित दिव्या जीवन-सरिता की धारा में अपने आपको उच्छित कर यह अनुभव कर सकी कि जीवन किस प्रकार दारुण और कंटक-संकुल है और नारी सामाजिक संरचना में कितनी दुर्बल और अशक्त है। दासी के रूप में उसने जीवन की कटुता को देखा ही नहीं, वरन् पूर्णरूप से अनुभव किया। सद्यः प्रसूता दिव्या अपने पुत्र शाकुल को तृषित-क्षुधित देखती रह जाती और उसके स्तन का सारा दूध द्विज-पुत्र गटक ले जाता, जिसके लिए वह क्रीत की गई थी। अपने पुत्र के जीवन को बचाने के लिए उसने सारे प्रयत्न किए, यहाँ तक कि बौद्ध-विहार में भी प्रश्रय प्राप्त करने की कोशिश की; परन्तु दासी होने के कारण उसे प्रश्रय न प्राप्त हो सका। बौद्ध-विहार में उसे यह कटु अनुभव हुआ कि दासी वेश्या की तुलना में भी तुच्छ है। दासी दासी होती है, उसका कोई स्वामी होता है; जबकि वेश्या स्वतंत्र नारी होती है। अपने पुत्र को बचाने के लिए वह कुछ भी कर सकती थी, वेश्या भी बन सकती थी, वेश्या बनने का संकल्प भी उसने कर लिया था; किन्तु यमुना-तट पर ब्राह्मण (उसका स्वामी) को देख और उसकी पुकार सुन उसने व्याकुल हो यमुना में पुत्र-सहित आत्म-निक्षेप कर दिया। जिस पुत्र की रक्षा के लिए वह सब कुछ कर सकती थी, उस पुत्र को खोकर वह रत्न प्रभा की सहेली और अत्यन्त अंतरंग अंशुमाला के रूप में लोगों के सामने आविर्भूत हुई। दिव्या ने अंशुमाला के रूप में सब कुछ पाया : अतुल धन और यश, रत्न प्रभा का स्नेह और अभिजात वर्ग का प्रशंसा-भाव, किन्तु उसके पुत्र का अभाव उसके मन में निरन्तर दरकता रहा। वस्तुतः उसने अपना सर्वस्व खोकर यह सब प्राप्त किया था। यही कारण है कि उसकी प्रशंसा करने वाला अभिजात वर्ग उसकी प्रेम-माधुरी न पाकर उसे काष्ठ-पुत्तलिका-मात्र समझने लगा था। वस्तुतः पत्नी-रूप में तिरस्कृत एवं मातृ-रूप में लांछित दिव्या कला-उपासिका-मात्र रह गई थी। वह कटुता से यह अनुभव कर सकी थी कि नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, वह पुरुष की भोग्या-मात्र है, भोग का उपादान है। उसके कानों में बार-बार मारिश का यह कथन गूँज उठता था—'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण-शक्ति का निखार-मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।' कला-उपासना में तत्पर होते हुए भी वह यह नहीं भूल पाती थी कि उसका सारा सौंदर्य, सारी कला-साधना नारीत्व का आकर्षण मात्र है, जिसकी चरम सिद्धि मातृत्व में निहित है, किन्तु उसका मातृत्व वन्ध्य सिद्ध हो गया था, उसका पत्नीत्व अभिशप्त हो गया था। फलतः वह कला की पुत्तलिका-मात्र रह गई थी। अनेक संभ्रांत पुरुषों के आकर्षण और प्रेम-निवेदन को वह ठुकरा चुकी थी, क्योंकि पुरुष की भ्रमर-वृत्ति ने उसे प्रवंचित किया था। उसका सारा मनोविज्ञान प्रवंचित और हारे हुए का मनोविज्ञान था। यही कारण है कि वह मारिश के सहज, निश्छल प्रेम-निवेदन को भी स्वीकार न कर सकी।

कला-उपासना में निरत दिव्या (अंशुमाला) की कीर्ति-सुरभि सागल से मल्लिका देवी के पास तक भी पहुँची और वह अपनी शिष्या रत्नप्रभा से उसे माँग लाई। उसका अभिलाष था उसे राजनर्तकी के पद पर अधिष्ठित करना, पर वर्णाश्रम व्यवस्था पुनः दिव्या के मार्ग में आया। वह राजनर्तकी पद पर अभिषिक्त न हो सकी और पुनः सागल छोड़ने के लिए विवश हुई। उसे पहली बार सागल छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था लोक-लज्जा के कारण, परन्तु इस बार आत्म-सम्मान ने उसे छोड़ने के लिए विवश किया। पहली बार अपनी मातृतुल्या दासी के साथ पांथशाला का मार्ग खोजते-खोजते भटक गई थी, किन्तु इस बार उसमें इतना दृढ़ विश्वास और इस अहंभाव था कि उसने सहज रूप में ही पांथशाला का मार्ग पूछ लिया था और जन-मेदिनी उसकी अनुगता था। पहली बार वह छिन्नमूला और हतभागिनी थी, पर दूसरी बार उसका आत्म-बल उसका सम्बल था। अनुभव ने उसे परिपक्व बना दिया था। और पांथशाला में वर्णाश्रम व्यवस्था के अधिष्ठाता ने जब उससे उसका हाथ माँगा तो वह स्वीकार न कर सकी, क्योंकि वह जानती थी कि आचार्य की पत्नी हो जाने पर वह स्वातन्त्र्य-भावना से वंचित हो जाएगी। चीवरधारी पृथुसेन का धर्म की शरण जाने का आह्वान उसे रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि जीवन से पलायन को वह धर्म नहीं मानती थी और धर्म का आडम्बर बौद्ध-विहार की उस घटना के कारण उसकी आँखों के सामने नाच उठा, जिसने उसे विवश-आर्त्त बना दिया था, जिसके कारण वह अपने पुत्र से वंचित हुई थी और जिससे उसे यह बोध हुआ था कि वेश्या स्वतन्त्र नारी होती है। इसके साथ ही वह यह बात भी नहीं भूली थी कि पृथुसेन ने उसे कितनी निष्ठुरता के साथ प्रताड़ित किया था। वह अन्त में मारिश को अपना सकी, क्योंकि वह सुख-दुःख की अनुभूति के आदान-प्रदान में विश्वास करती थी और ऐसा करने के लिए मारिश तत्पर था। वह पुरुषत्व का अर्पण चाहती थी और नारीत्व को अर्पित करना चाहती है। आरम्भ की भीरु दिव्या अन्त में आकर प्रगल्भ हो जाती है और उसका आत्म-विश्वास उसे मार्ग अन्वेषित करने में सहायता देता है। चारित्रिक विकास की दृष्टि से दिव्या का पात्र बहुत ही सफल है।

दिव्या से ठीक विपरीत पात्र है सीरो का जो अपने समग्र रूप में छल-प्रपंच के कर्दम में सनी हुई प्रतीत होती है। सत्ता ही उसके जीवन का लक्ष्य है और भोग ही उसकी अभिलाषा है। इन दोनों की प्राप्ति के लिए वह कुछ भी कर सकती है। उसके पास न तो कोई आदर्श है और न तो कोई आचार-विचार। पुरुष रूपी खूंटे में बँधकर रहना वह नारी की दुर्बलता समझती है। जिससे भी तृप्ति मिल जाए, उसी की ओर अभिमुख हो जाने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। मल्लिका

के व्यक्तित्व को लेखक ने महिमा-मंडित और प्रभावशाली बनाने का यत्न किया है तथा रत्नप्रभा का व्यक्तित्व भी गौरव सम्पन्न है।

पुरुष पात्रों में पृथुसेन के चरित्र को जिस रूप मे उभारा गया, उस रूप में उसका विकास नहीं हो सका। लेखक ने उसे शौर्य की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित किया है, किन्तु आगे चलकर वह अपने पिता प्रेश्य का क्रीड़ा-कौतुक ही सिद्ध होता है और सौरों के सामने अस्तंगत सूर्य के समान निष्प्रभ हो जाता है। उसमें वह चारित्रिक गरिमा भी नहीं है, जिसकी अपेक्षा उसके जैसे पात्र से की जा सकती है। इसी कारण उसका उदय और अस्त दोनों आकस्मिक ही सिद्ध होते हैं। पृथुसेन की तुलना में रुद्रधीर का चरित्र और व्यक्तित्व दोनों अधिक प्रभावशाली हैं। उसमे चारित्रिक गरिमा भी है। उसमे वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना की जो छटपटाहट है, वह उसे निरन्तर क्रियाशील बनाए रखती है और दासपुत्र पृथुसेन के प्रति जो प्रतिहिंसा की भावना है, वह निरन्तर जागरूक बनाए रखती है। फलतः वह अपने प्रयत्न में आप्तकाम ही सिद्ध होता है। उसमे पृथुसेन की तुलना में अधिक संवेदनशील हृदय है। वह दिव्या के प्रति जो प्रेम-भाव रखता है, वह उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित है। जहाँ उसके चरित्र में औदात्य है, वहाँ पृथुसेन के चरित्र में औद्धत्य है। उसका चरित्र जिस गुरुता से सम्पृक्त है, पृथुसेन का चरित्र उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। अन्य पुरुष पात्रों में मारिश का पात्र अधिक गत्यात्मक और प्रभावशाली है। लेखक ने उसे अपने सिद्धान्त-पक्ष के निरूपण का साधन बनाया है। उसके माध्यम से ही उसने धार्मिक, सामाजिक विषमताओं पर प्रहार किया है। उसके चरित्र में भी एक विशेष प्रकार का औदात्य है, जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उसकी ओर खिंचता जाता है। स्पष्ट वक्ता होने के कारण उसमें एक प्रकार का औद्धत्य लक्षित होता है, किन्तु वह औद्धत्य केवल वाणी का औद्धत्य है, स्वभाव का नहीं। वह स्वभाव से ऋजु और निष्कपट है। यही कारण है कि दिव्या उसके आकर्षण से मुक्त न हो सकी और अंत में उसी का प्रश्रय ग्रहण कर सकी।

इस उपन्यास का वैचारिक धरातल बहुत ही पुष्ट है। लेखक ने जीवन के वैषम्य की ओर संकेत ही नहीं किया है, वरन् उन पर कसकर प्रहार किया है। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों-मान्यताओं को उसने व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है और उनकी निरर्थकता की ओर संकेत कर दिया है। जन्म के आधार पर श्रेष्ठता की भावना पर प्रहार करते हुए लेखक पृथुसेन से कहलाता है—'जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?...

या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिए जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है ?—हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है ? अथवा द्विज कुल मे जन्मे अपदार्थ लोगो का अहंकार ?' जातिगत श्रेष्ठता की भावना पर लेखक ने केवल प्रहार ही नहीं किया है, वरन् यह संकेत भी किया है कि यह श्रेष्ठता की भावना मूलरूप मे द्विज वंश का अहं भाव है, जिसकी आड में द्विज वंश अन्य वर्ग को शासित और अभिभूत करता है।

परलोक की भावना पर प्रहार करते हुए मारिश कहता है—"मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी दासता है। तू स्वामी के भोग के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता है। तू संकट से पलायन कर रक्षा चाहता है, यही तेरी निर्बलता है। संकट सब स्थान और समय में तेरे साथ रहेगा। संकट का पराभव कर। पराभूत होना ही पाप है। उसका फल तू तत्काल भोगेगा। तू स्वतंत्र 'कर्त्ता' है। स्वतंत्रता अनुभव करना ही जीवन है। पराभूत सजीव होकर भी मृत है। निर्भय हो! जीवन के लिए युद्ध कर! मृत्यु भय का अन्त है। जीवन मे उत्तेजित हो! कायर मत बन!" वस्तुतः यह मारिश का जीवन-दर्शन है। वह अप्रत्यक्ष को कोई महत्त्व नहीं प्रदान करता, प्रत्यक्ष ही उसके लिए सब कुछ है। जीवन के संकट से पलायन वह कायरता समझता है और परलोक की भावना को शोषण का कवच। उसकी दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता सर्वोपरि है। बन्धन स्वनिर्मित है। यदि मनुष्य कायर न बने और साहस के साथ आगे बढ़े तो वह स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है। मारिश की दृष्टि में कर्म-फल का विधान शोषण आडम्बर है, शोषण का एक तरीका है।

पुरुष के लिए नारी भोग्य है, केवल भोग्य है। दयिता, पत्नी, प्रेयसी, जननी सबसे परे वह केवल भोग्या है, भोग का उपकरण मात्र है। विषम परिस्थिति में फँसी दिव्या अपनी धात्री से कहती है—"नारी है क्या? मातल वृक ठीक ही कहता है अम्मा! धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और मातल वृक नारी के लिए सब समान हैं। जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ? सब उसे भोगेंगे ही।" यह कितना कटु यथार्थ है। आज के अति विकसित जीवन में भी समान अधिकार की बात करने वाली नारी व्यावहारिक धरातल पर भोग्या ही है। पुरुष की दृष्टि बदली नहीं है।

भाग्य और कर्म-फल के प्रसंग पर अपनी व्याकुलता व्यक्त करते हुए मारिश कहता है—'भाग्य और कर्मफल से क्या अभिप्राय ? भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान!' वस्तुतः मनुष्य अपनी विवशता और अज्ञान के कारण ही अनेक प्रकार के दुःख भोगता है और उन्हें

भाग्य तथा कर्मफल के नाम देकर चुप बैठ जाता है। इस उपन्यास में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में लेखक यथेष्ट रूप में सफल रहा है। उसका सारा प्रयत्न सहज-स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इसके मूल में एक तो उस काल की कथावस्तु है, जिस पर अभी तक यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ा है और दूसरी ओर ऐसे पात्रों का चयन है जो लेखक की विचारधारा के सहज वाहक बन गए हैं। मारिश ऐसा पात्र है, जिसके माध्यम से लेखक को अपनी विचार-धारा व्यक्त करने का सुभीता अधिक मात्रा में प्राप्त हो सका है। वैचारिक दृष्टि से इस उपन्यास का अपना विशेष महत्व है। जीवन और जगत् की अनेक समस्याओं को लेखक ने अपनी दृष्टि से देखने का सफल प्रयत्न किया है।

लेखक की शैली ऐतिहासिक उपन्यास के उपयुक्त है। भाषा-प्रयोग में भी उसने पूरी सावधानी दिखाई है, किन्तु भाषा में सहज प्रवाह नहीं आ सका है, कृत्रिमता लक्षित हो जाती है। कल्पना-प्रवणता होने के कारण लेखक के लिए बहुत ही अच्छा अवसर रहा है और यदि वह चाहता तो भाषा का बहुत ही समंजस प्रवाह निर्मित कर सकता था, किन्तु भाषा-प्रयोक्ता के रूप में वह अधिक सफल नहीं रहा है। औपन्यासिक शिल्प-विधि की दृष्टि से यह उपन्यास सफल है। कथावस्तु और वातावरण-निर्माण में उसने पूरी कुशलता का परिचय दिया है और चरित्र-निर्मिति की दृष्टि से भी वह अधिक सफल है। समग्र रूप से देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में दिव्या एक सफल कृति है।

विशेष महत्त्व नहीं रखता और जहाँ तक अभिव्यंजन-प्रणाली एवं भाषा-प्रयोग का प्रश्न है, यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि अनेक प्राचीन साहित्यिक उक्तियों की छाया से गर्भित यह शत प्रतिशत द्विवेदी जी की वस्तु है। उनका व्यक्तित्व धूमिल नहीं पड़ा है और अपनी वर्णना में वे निरपेक्ष नहीं हो सके हैं। अतः हम निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम्ना आत्मकथा है, परन्तु विषय और तत्त्व की दृष्टि से आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

यथार्थभास की प्रस्तुति के लिए लेखक ने कथामुख में लिखा है—शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'अथ बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख्यते' 'आत्म-कथा लिख्यते' अन्य पुरुषात्मक होने के कारण यथार्थ के आभास को झुठला देता है और इससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि किसी अन्य व्यक्ति (स्वयं पात्र नहीं) के द्वारा लिखित कथावस्तु आत्म-कथा न होकर कथा, जीवनी, कहानी या और कुछ हो सकती है। अतः यथार्थ के आभास के लिए तथाकथित प्राप्त पांडुलिपि में इस प्रकार के शीर्षक को लाकर लेखक ने स्वयं यथार्थाभास को भंग कर दिया है।

'बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है,' लेखक ने इस ओर संकेत इसीलिए किया है, जिससे पाठकों को यथार्थ की भ्रांति हो जाए; परन्तु जिस रूप में इस उपन्यास का अंत होता है, वह अस्वाभाविक नहीं है; वरन् इस प्रकार के अन्त से इसका प्रभाव और गहरा गया है।

लेखक ने साहित्यिक जाँच के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'कादम्बरी' की शैली में ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आँखों का प्राधान्य इसमें भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है—रूप का, रंग का, शोभा का, सौंदर्य का इसमें भी जमकर वर्णन किया गया है, पर इतने से ही साहित्यिक जाँच समाप्त नहीं हो जाती। कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है वहाँ वह जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अन्तिम उच्छ्वासों में तो वह जैसे अपने ही में धीरे-धीरे डूब रहा है।[1] जहाँ तक 'कादम्बरी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की शैली के साम्य का प्रश्न है, यह बात सहज रूप में

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, उपसंहार, पृ० ३०४।

कही जा सकती है कि वह स्वतः अपूर्ण है, और द्विवेदी जी की दीक्षा के योग के कारण अपूर्ण होते हुए भी अपूर्ण नहीं होती। वरन् किसी प्रकार में पाठकों की जिज्ञासा के कारण अपूर्णता एवं रमणीय प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि यह कथा दूसरे कवि 'कादम्बरी' शैली में लिखी गई है, स्वतः मात्र में भ्रामक है। इसकी कथा सुगठित और सुनियोजित है। कथा में जहाँ-कहीं सरसता है अथवा शिथिल-बहुल प्रवाह है, उसका उत्तरदायित्व लेखक की मनोभूमि पर डाला जा सकता है और अन्तिम उच्छ्वासों में कथा की समाप्ति के लिए लेखक की हड़बड़ाहट। कथा-प्रवाह के अविच्छिन्न निर्वाह के लिए अपार धैर्य आवश्यक होता है, परन्तु अधिकांश लेखक अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उतावले हो जाते हैं, इस कारण वे अपनी कथा की परिसमाप्ति को समुचित व्यवस्था नहीं दे पाते। द्विवेदीजी भी अन्तिम उच्छ्वासों में धैर्य का परिचय नहीं दे सके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कथा को समाप्त कर देने की बेचैनी है। संभव है इसका कुछ दायित्व 'विशाल भारत' के सम्पादक पर भी हो। अतः उपसंहार में द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत तर्कों का प्रत्याख्यान कर यह सहज रूप में सिद्ध किया जा सकता है कि यथार्थ का आभास खोजना पड़ गया है और सहृदय पाठक इसे बाणभट्ट की आत्म-कथा के रूप में न स्वीकार कर द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत बाणभट्ट की आत्म-कथा के रूप में ही ग्रहण करेंगे, जिसमें उनका यथेष्ट आत्म-निवेदन है और इस आत्म-निवेदन के माध्यम से उन्होंने बाणभट्ट से तादात्म्य ही स्थापित नहीं किया है, अपितु उनकी भूमिका को अपना कर उन्हीं की आँखों से निखिल विश्व को देखने की चेष्टा की है। अतः इस आधार पर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कहने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी।

आलोचक एक प्रश्न और उठाते हैं कि यह प्राचीन आख्यायिका की शैली में लिखा गया उपन्यास है। संस्कृत में गद्य से युक्त वह रचना आख्यायिका कही जाती है, जिसके शब्द, अर्थ और समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य हों तथा जिसमें उच्छ्वास हों। उसमें नायक अपने घटित चरित्र को स्वयं कहता है, समय-समयपर भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपवक्त्र (दोनों छंद प्रकार) रहते हैं। वह कवि (कथाकार) के अभिप्राय विशिष्ट किन्हीं कथनों से विह्नित तथा कन्याहरण, युद्ध, प्रेमियों के वियोग और अभ्युदय से समन्वित रहती है।[1] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के स्वरूप में आख्यायिका के लक्षण के कतिपय तत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं : यह गद्यमयी रचना तो है ही, इसका कथानक उच्छ्वासों में विभक्त है, इसका कथानायक अपने घटित चरित्र को स्वयं कहता है और इसमें कन्याहरण, युद्ध, वियोग, अभ्युदय आदि भी यथास्थान अंकित हैं। लेखक की

१. काव्यालंकार, १, २५-२८।

विशेष महत्व नहीं रखता और जहाँ तक अभिव्यंजन-प्रणाली एवं भाषा-प्रयोग का प्रश्न है, यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि अनेक प्राचीन साहित्यिक उक्तियों की छाया से गर्भित यह बात प्रतिशत द्विवेदी जी की वस्तु है। उनका व्यक्तित्व धूमिल नहीं पड़ा है और अपनी वर्णना में वे निरपेक्ष नहीं हो सके हैं। अतः हम निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम्ना आत्मकथा है, परन्तु विषय और तत्व की दृष्टि से आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

यथार्थभास की प्रस्तुति के लिए लेखक ने कथामुख में लिखा है—शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'अथ बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख्यते'। 'आत्म-कथा लिख्यते' अन्य पुरुषात्मक होने के कारण यथार्थ के आभास को झुठला देता है और इसमें यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि किसी अन्य व्यक्ति (स्वयं पात्र नहीं) के द्वारा लिखित कथावस्तु आत्म-कथा न होकर कथा, जीवनी, कहानी या और कुछ हो सकती है। अतः यथार्थ के आभास के लिए तथाकथित प्राप्त पांडुलिपि में इस प्रकार के शीर्षक को लाकर लेखक ने स्वयं यथार्थाभास को भंग कर दिया है।

'बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है,' लेखक ने इस ओर संकेत इसीलिए किया है, जिससे पाठकों को यथार्थ की भ्रांति हो जाए; परन्तु जिस रूप में इस उपन्यास का अंत होता है, वह अस्वाभाविक नहीं है; बल्कि इस प्रकार के अन्त से इसका प्रभाव और गहरा गया है।

लेखक ने साहित्यिक जाँच के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'कादम्बरी' की शैली में ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आँखों का प्राधान्य इसमें भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक है—रूप का, रंग का, शोभा का, सौंदर्य का इसमें भी जमकर वर्णन किया गया है, पर इतने से ही साहित्यिक जाँच समाप्त नहीं हो जाती। कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है वहाँ वह जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अंतिम उच्छ्वासों में तो वह जैसे अपने ही में धीरे-धीरे डूब रहा है।[1] जहाँ तक 'कादम्बरी' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की शैली के साम्य का प्रश्न है, यह बात सहज रूप में

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, उपसंहार, पृ० २०५।

करना चाहती थी। इतना ही नहीं, वरन् भट्टिनी का गरिमाशील मन भी अनायास ही उसकी ओर खिंच रहा था। निपुणिका की दृष्टि से बाणभट्ट पुरुषों पर मरीचिधारी देवता है और भट्टिनी की दृष्टि से सरस काव्यकवि कालिदास। अतः जिन नारी पात्रों के सम्पर्क में वह आता है, प्रायः सभी उसकी ओर श्रद्धा-भाव से झुके हैं और उसमें ऐसा कुछ पाता है जो साधारण स्थिति में पुरुषों में दुर्लभ होता है।

बाणभट्ट में स्वाभिमान की मात्रा है, जिसमें किंचित् औद्धत्य भी मिला हुआ है। कुमार कृष्णवर्धन के साथ वह जिस निर्भीकता और औद्धत्य से बात कर सका, वह उसके चरित्र के दूसरे पक्ष को उद्घाटित करता है। उससे यह प्रतीत होता है कि जीवनानुभव में वह कितना कच्चा है। भट्टिनी के मुक्ति-प्रकरण में उसने जिस साहस का परिचय दिया था, उसका अत्यन्त भीषण परिणाम भुगतना पड़ सकता था। कुमार कृष्णवर्धन के समक्ष औद्धत्य प्रदर्शित कर उसने अपने अपराध को द्विगुणित कर लिया था। यह तो वस्तुतः कुमार का सौजन्य था कि उसने बाणभट्ट की निर्भीकता की प्रशंसा ही नहीं की, वरन् यहाँ तक कहा—'मैंने आज से पहले तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को क्यों नहीं देखा, यही सोच रहा हूँ।'

अघोर भैरव की दृष्टि में भण्ड और भीरु होते हुए भी बाणभट्ट धीरे-धीरे उन्हें प्रिय लगने लगा था। यह असल में उसके आन्तरिक गुण का परिणाम था। लेखक ने इस केन्द्रीय पात्र का गठन पूरी सतर्कता से किया है और उसके चरित्र को अनेक पक्षों से आलोकित किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बाणभट्ट आदर्श पात्र है, किन्तु है मनुष्य और लेखक ने उसके उस मनुष्य-रूप को उसकी समस्त सबलता-दुर्बलता के साथ अंकित कर दिया है। वह भी हाड़-मांस का पिंड है। उसमें भी राग तत्त्व अपने पूर्ण विकास के साथ है। यह कहना कि निपुणिका उसके प्रति प्रेमार्द्र थी और वह निरपेक्ष-अनासक्त था, अपने आप में भूल होगी। निपुणिका के प्रति उसका मोह इसमें ही प्रतिभासित हो उठता है कि निपुणिका के आकस्मिक अन्तर्धान के कारण उसने नाट्य मंडली तोड़ डाली और अपने नाटक की पांडुलिपि शिप्रा की क्षिप्र चटुल तरंगों को भेंट कर दी। निपुणिका की मृत्यु के पश्चात् बाणभट्ट के कानों में ये शब्द गूँजते रहे—'मैंने कुछ भी नहीं रखा; अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाएँ एकसूत्र हो गई हैं।' बाणभट्ट कितनी गहराई से इस मर्मंतुद वेदना को अनुभूत करता है। निपुणिका के नारी-सुलभ सहज ज्ञान ने बहुत पहले उसे यह बोध करा दिया था कि भट्टिनी और बाणभट्ट दोनों एक दूसरे के आकर्षण केन्द्र में अनजाने ही आ गए हैं और दोनों एक दूसरे की ओर अज्ञात रूप से बढ़ते जा रहे हैं। उन्माद की अवस्था में सहज ईर्ष्यावश उसने भट्टिनी से कहा था कि गंगा की धारा में

आलंकारिक अभिव्यंजन-शैली भी आख्यायिका के अनुकूल ही है। द्विवेदी जी ने इस आख्यायिका-शैली को साभिप्राय अपनाया है। प्राचीनता की आभास-निर्मिति के लिए ऐसा किया गया है, किन्तु इस रचना का स्वरूप इतना अधिक औपन्यासिक है कि किसी को यह भ्रम भी नहीं हो सकता कि यह आख्यायिका-शैली में लिखा गया है।

आत्मकथात्मक उपन्यास में चरित्र-चित्रण का प्रश्न अत्यन्त जटिल रहता है और प्रधानतः प्रधान पात्र जो स्वयं कथा कहता है,उसके चारित्रिक विकास को अंकित कर सकना अतिरिक्त कला-कौशल पर निर्भर करता है। इस प्रकार के उपन्यास में लेखक सर्वज्ञता की शैली को नहीं अपना सकता और अपने चरित नायक के सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ भी कहने का अवसर नहीं निकाल सकता। उसके चरित्र पर प्रकाश डालने के उसके साधन सीमित ही सिद्ध होते हैं। उसके निजी क्रिया-कलाप, अन्य पात्रों के साथ उसके व्यवहार तथा उसके सम्बन्ध में अन्य पात्रों की प्रतिक्रियाएँ ये ही साधन हैं, जिनसे वह अपने चरितनायक के चरित्र को आलोकित कर सकता है। आत्मकथात्मक उपन्यास में सर्वदा एक खतरा रहता है; या तो चरितनायक का अवमूल्यन हो जाता है या तो अतिमूल्यन; किन्तु सामान्य रूप में अतिमूल्यन के स्थान पर अवमूल्यन की सभावना अधिक रहती है। आचार्य द्विवेदी जी ने पूरे कौशल और सजगता के साथ बाणभट्ट के चरित्र को उरेहा है। फलतः अवमूल्यन और अतिमूल्यन के खतरों से बचकर चरित्र का अत्यन्त स्वाभाविक विकास हो सका है। बाणभट्ट अपने बारे में जब स्वयं कुछ कहता है, तो उससे उसका चरित्र अवमूल्यित रूप में हमारे सामने आता है, परन्तु उसके क्रिया-कलाप से पाठकों का भ्रम दूर हो जाता है। पाठक यह विश्वास करने के लिए विवश हो जाते हैं कि बाणभट्ट सहज मानवीय संकोच के कारण अपने आपको अवमूल्यित रूप में प्रस्तुत कर रहा है, अन्यथा वह एक ऐसा पात्र है जिसकी मर्यादा है, जिसके अपने संस्कार हैं और जिसकी रुचियाँ परिष्कृत हैं। 'मैं स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ', जो इस रूप में सोच सकता है, उसका चरित्र कितना उदात्त होगा। नारी-मन में उसके प्रति जो सहज श्रद्धा-भाव एवं विश्वास-भाव जागरित होता है, उसके मूल में उसके चरित्र का औदात्य है जो उसकी कथनी में नहीं है बल्कि करनी में है। निपुणिका ने अपने आपको बाणभट्ट के लिए समग्र भाव से उत्सर्जित कर दिया, इसके मूल में उसका पौरुष एवं उसका शारीरिक सौंदर्य नहीं है, वरन् उसका मनः सौंदर्य है। वह नारी के प्रति जो सहज निरपेक्ष भाव रख पाता है, वह अयस्कान्त के समान नारी पर असीम प्रभाव डालता है और उसे अपनी ओर खींच लेता है। उसके कारण ही निपुणिका अपने भाव-सुमनों से उसे नीराजित करने के लिए समुत्सुक थी और उसी कारण से उज्जयिनी की गणिका मदनश्री भी पराभूत हो मन ही मन उसे प्यार

जीवन्त बना दिया है । महामाया और सुचरिता के निर्माण में भी उन्हें यथेष्ट साफल्य प्राप्त हुआ है ।

नारी-पात्रों के अतिरिक्त पुरुष पात्रों के निर्माण में भी लेखक ने अच्छी सफलता प्राप्त की है । प्रायः प्रत्येक पात्र अपने वैशिष्ट्य का प्रतीक है । अघोर भैरव को तांत्रिक साधना के सिद्ध पुरुष-रूप में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है । उसमें तेजस्विता है, तिग्मता है और साथ ही अजस्र करुणा का अन्तर्वर्ती प्रवाह है । वस्तुतः उसका वैशिष्ट्य उसे अन्यों से विलक्षण सिद्ध कर देता है । आचार्य सुगत भद्र का सौम्य रूप बहुत ही आकर्षक है । उसमें जो तेज है, जो प्रभा-पुंज है और निखिल मानव-जाति के प्रति जो करुणा की भावना है, वह सब हृदयावर्जक, दाहक और अत्यन्त महनीय है । कुमार कृष्णवर्धन का निर्माण लेखक ने पूरी कुशलता से किया है । वह एक साथ ही शूरवीर, साहसी, दक्ष और प्रखर राजनयिक सिद्ध होता है । उसके व्यक्तित्व और व्यवहार में जो सहज शालीनता है, वह उसे और भी आकर्षक बना देती है । लोरिकदेव, विरतिवज्र आदि पात्रों की निर्मिति में भी लेखक ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है । चंडी मंदिर के पुजारी को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस कारण वह किंचित् अविश्वास्य-सा प्रतीत होता है ।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अधिकांश पात्र आदर्शीकृत ढाँचे में निर्मित हैं, उनमें स्थिरता की तुलना में गत्यात्मकता कम है । केवल निपुणिका और सुचरिता के चरित्र में अपेक्षाकृत गत्यात्मकता अधिक है । उपन्यास के आत्मकथात्मक होते हुए भी बाणभट्ट के चरित्र के प्रायः समस्त वैशिष्ट्य उभर कर सामने आ सके हैं, इसी में इस उपन्यास की सफलता निहित है ।

इस उपन्यास की आधिकारिक कथावस्तु बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी से सम्बद्ध है और अपने स्वरूप में छोटी भी है, किन्तु इस कथावस्तु से सम्बद्ध अन्य अवान्तर कथाएँ भी इसमें हैं जो आधिकारिक कथा को पोषित करती हैं । अघोर भैरव और महामाया की कथा, विरतिवज्र और सुचरिता की कथा, नर्तकी मदनश्री की कथा, बाभ्रव्य और यशोवर्मा की कथा आदि ऐसी कथाएँ हैं जो प्रधान कथानक में नए मोड़ लाती हैं और उसे और अधिक मार्मिक बनाती हैं । समस्त कथाओं को लेखक ने इस रूप में संग्रथित किया है कि ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि अवान्तर कथा का प्रकरण आ गया है, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि मूल कथानक के अविभाज्य अंग-रूप में ही वह उन्मीलित हो उठी है । यह वस्तुतः लेखक का रचना-कौशल है कि उसने छोटे से कथानक को कल्पना के रंग में अत्यन्त मनोरम और आकर्षक चित्र का रूप दे दिया है । ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण इसकी आधिकारिक कथा-वस्तु का मूल आधार ऐतिहासिक है । बाणभट्ट, लोरिकदेव, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री,

भट्टिनी इसलिए कूद पड़ी थी कि उसे पूर्ण प्रत्यय था कि बाणभट्ट उसे डूबने नहीं देगा और बाणभट्ट अपने अन्तर्मंथन से भी इसी निष्कर्ष पर आया था कि वह किसी भी रूप में भट्टिनी को डूबने न देता; क्योंकि भट्टिनी के सहज आकर्षण से वह बँध चुका था और भट्टिनी भी मुक्त नहीं थी। उसके सहज आभिजात्य और कौलीन्य ने तथा बाणभट्ट की सहज संकोच भावना ने इस अन्तर्व्यापिनी मृदुल भावना को अभिव्यक्ति के स्तर पर आने से रोके रखा। इसीलिए निपुणिका ने वासवदत्ता की भूमिका में बाणभट्ट को रत्नावली को सौंप कर मानो प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाओं को एकसूत्र कर दिया। भट्टिनी के प्रति बाणभट्ट की भावना कितनी उद्दाम थी, इसका पता इसी बात से चल जाता है कि उसके पुरुषपुर के प्रस्थान की बात सुनकर भट्टिनी ने व्याकुल होकर कहा था—'जल्दी ही लौटना।' परन्तु बाणभट्ट की अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा—'फिर क्या मिलना होगा?' लेखक का कथन है कि इस कथा में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है, अपने समग्र रूप में सही है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों प्रधान नारी पात्र हैं। लेखक ने दोनों पात्रों को सहज सहानुभूति के साथ अंकित किया है। उनके बाह्य और आन्तरिक सौंदर्य को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में चित्रित किया है। इस उपन्यास में आए हुए समस्त नारी पात्र लेखक की करुणा स्रोतस्विनी के अन्तराल में अपने अस्तित्व पाकर भास्वर हो उठे हैं। चाहे निपुणिका हो, चाहे भट्टिनी, चाहे सुचरिता हो चाहे महामाया, चाहे मदनश्री हो, चाहे चारुस्मिता, द्विवेदी जी ने सबको नारी-गरिमा से अलंकृत रूप में ही प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी की दृष्टि में नारी त्यागमयी है, श्रद्धामयी है और पुरुष के जीवन की पूरक है। किन्तु विडम्बना यह है कि वह समाज में चिर उपेक्षित, तिरस्कृत और अवमानित है। चाहे रानी हो, चाहे दासी हो, चाहे कुलांगना हो, चाहे वारांगना हो, सभी विवश हैं। सभी पुरुष के हाथ के क्रीड़ा-कौतुक हैं, सभी अभिशप्त हैं। प्रकृति ने नारी को कोमल-मसृण बनाया है, वह ब्रह्मा की अनुपम सृष्टि है, परन्तु समाज ने उसके जीवन को अभिशप्त बना दिया है, उसकी शोभा, उसकी कोमलता को दलित-लुंठित किया है और उसे निदारुण यातनाएँ दी हैं। यही भट्टिनी की दशा है, यही निपुणिका की। इससे विलग न तो सुचरिता है और न तो महामाया। मदनश्री और चारुस्मिता के जीवन की कहानी भी इससे भिन्न नहीं है। सच पूछिए तो आस-पास सलनाओं की यही करुण कहानी है। वस्तुतः यह द्विवेदी जी की लेखनी का चमत्कार है कि उन्होंने इस उपन्यास में आए हुए नारी पात्रों को अपूर्व गरिमा से भर दिया है। निपुणिका और भट्टिनी के निर्माण में उन्होंने पूरे कौशल से काम लिया है तथा उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना, क्रिया, प्रतिक्रिया आदि को व्यक्त कर उन्हें पूर्णतया

[illegible] कर दिया है। [illegible] के [illegible] हैं जो [illegible]
[illegible] हुआ है।

[illegible] के [illegible] के चित्रण में भी लेखक ने [illegible]
[illegible] है। [illegible] का [illegible] है। अघोर भैरव की [illegible]
[illegible] के लिए [illegible] है [illegible] किया गया है। उसमें
[illegible] है, [illegible] है और [illegible] का [illegible] में [illegible] है। वस्तुतः
[illegible] सिद्ध कर देता है। उसके [illegible] को [illegible]
[illegible] ही मार्मिक है। उसमें जो तेज है, जो [illegible] है और [illegible] भारत-
भूमि के प्रति जो करुणा की भावना है, वह सब हृदयस्पर्शी, [illegible] और [illegible]
महनीय है। कुमार कृष्णवर्धन का चित्रण लेखक ने बड़ी कुशलता से किया है। वह
एक साथ ही शूरवीर, त्यागी, दक्ष और प्रखर राजनीतिक सिद्ध होता है। उसके
व्यक्तित्व और व्यवहार में जो सहज शालीनता है, वह उसे और भी मार्मिक बना
देती है। लोरिकदेव, विरतिवज्र आदि पात्रों की निर्मिति में भी लेखक ने अपनी कुशलता
का परिचय दिया है। चंडी मंदिर के पुजारी को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया
है। इस कारण वह किंचित् अविश्वास्य-सा प्रतीत होता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अधिकांश पात्र आदर्शीकृत ढाँचे में निर्मित हैं,
उनमें स्थिरता की तुलना में गत्यात्मकता कम है। केवल निपुणिका और सुचरिता के
चरित्र में अपेक्षाकृत गत्यात्मकता अधिक है। उपन्यास के आत्मकथात्मक होते हुए भी
बाणभट्ट के चरित्र के प्रायः समस्त वैशिष्ट्य उभर कर सामने आ गये हैं, इसी में
इस उपन्यास की सफलता निहित है।

इस उपन्यास की आधिकारिक कथावस्तु बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी
से सम्बद्ध है और अपने स्वरूप में छोटी भी है, किन्तु इस कथावस्तु से सम्बद्ध अन्य
अवान्तर कथाएँ भी इसमें हैं जो आधिकारिक कथा को पोषित करती हैं। अघोर भैरव
और महामाया की कथा, विरतिवज्र और सुचरिता की कथा, नर्तकी मदनश्री
की कथा, बाभ्रव्य और यशोवर्मा की कथा आदि ऐसी कथाएँ हैं जो प्रधान कथानक में
नए मोड़ लाती हैं और उसे और अधिक मार्मिक बनाती हैं। समस्त कथाओं को लेखक
ने इस रूप में संग्रथित किया है कि ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि अवान्तर कथा का
प्रकरण आ गया है, वरंच ऐसी प्रतीत होता है कि मूल कथानक के अविभाज्य अग-
रूप में ही वह उन्मीलित हो उठी है। यह वस्तुतः लेखक का रचना-कौशल है कि
उसने छोटे से कथानक को कल्पना के रंग से अत्यन्त सजीव और आकर्षक चित्र का
रूप दे दिया है। ऐतिहासिक उपन्यास होने के कारण इसकी आधिकारिक कथा-वस्तु
का मूल आधार ऐतिहासिक है। बाणभट्ट, श्रीहर्षदेव, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री,

यशोशर्मा, धावक और भर्वुपाद ऐतिहासिक पात्र तथा देवपुत्र तुवर मिलिन्द भी ऐतिहासिक पात्र हैं। लेखक ने 'हर्षचरित' के प्रथम तीन उच्छ्वासों के आधार पर बाणभट्ट का निर्माण किया है, किन्तु मूल कथानक उसकी निजी कल्पना है, जिसके माध्यम से उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को रूपायित करने का प्रयत्न किया है। लेखक की वर्णन-शैली कथानक के अविच्छिन्न प्रवाह में बाधक सिद्ध हुई है। लेखक जब सौंदर्य का वर्णन करने लगता है तो उपमानों की झड़ी लगा देता है। चाहे नारी-सौंदर्य का चित्रण हो और चाहे प्रकृति-सौंदर्य का, वह उसमें इस प्रकार तन्मय हो जाता है कि यह भूल ही जाता है कि कथानक का प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। इसके अतिरिक्त भी लेखक प्रसंगों की खोज में रहता ही है। कोई प्रसंग मिला नहीं कि वह ले उड़ता है और उसके अनेक पक्षों को इस रूप में उन्मीलित करने लगता है मानो उसे कथानक के प्रवाह की कोई परवाह नहीं है। समस्त उपन्यास में इस प्रकार के प्रसंग भरे पड़े हैं, जिन्होंने कथानक के ऋजु सरल प्रवाह को बाधित किया है। यही कारण है कि पूरे उपन्यास में एक प्रकार की मंथरता है और क्षिप्र कार्यावस्था का अभाव है। उपन्यास के कथानक के कुछ अंश ऐसे भी हैं जो विश्वसनीय प्रतीत नहीं होते। जैसे—वज्रतीर्थ का समूचा वर्णन और धूम्रगिरि की घटना। धार्मिक अतिचार में विश्वास रखने वाले भले ही इन प्रसंगों को स्वाभाविक रूप में स्वीकार कर लें, किन्तु बुद्धि-विवेक सम्पन्न पाठक के लिए तो ऐसे प्रसंग अविश्वास्य ही सिद्ध होंगे। भले ही लेखक ने धार्मिक अतिचार को दिखाने के उद्देश्य से उन्हें प्रस्तुत किया हो, किन्तु प्रभाव-निर्मिति में वे व्याघातक ही सिद्ध हुए हैं।

एक अपहृत बाला की संक्षिप्त कथा को लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण में अत्यन्त भास्वर एवं हृदयावर्जक बना दिया है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है। हर्षकालीन जीवन-चर्या, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा, धार्मिक ऊहापोह आदि का जितना सुन्दर परिचय इस औपन्यासिक कृति से प्राप्त किया जा सकता है, उतना सुन्दर परिचय तत्काल-सम्बद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुशीलन से भी नहीं प्राप्त हो सकता। तत्कालीन समग्र जीवन का लेखक को इतना अधिक परिचय है कि वह उसे किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति देने के लोभ को संवृत नहीं कर पाया है। परिणा[illegible] हुआ है कि अनेक [illegible] अनावश्यक विस्तार हो गया है और

[illegible] हो गया है। इस उपन्यास का

प्रकार [illegible] चिन्तन-प्रधान उपन्यास है,

वैर्य [illegible] है। जीवन और जगत्

जिस [illegible] रचना में अत्यन्त

के

इस उपन्यास में प्रेम उदात्त रूप के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, परन्तु पूरे उपन्यास में पात्रगत विनय और लज्जा के मोटे आवरण के कारण उसकी अभिव्यक्ति पूर्ण रूप में नहीं हो पाई है। लेखक ने इसी विनय और लज्जा भावना को सारे पात्रों पर आरोपित कर दिया है। फलतः बाणभट्ट, भट्टिनी और निपुणिका भाव-प्रसार को लज्जा के आवरण में छिपाए ही रहते हैं और उनकी अन्तरालवर्तिनी भावनाएँ रह-रहकर हृदय को स्पर्श तो अवश्य करती हैं, पर छुईमुई के समान सिमट कर रह जाती हैं। सारा प्रेम-व्यापार दबे और अस्पष्ट भाव से प्रकट हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक में इतना साहस नहीं है कि वह प्रेम-प्रवाह को निर्बाध भाव से प्रवाहित होने की छूट दे दे। परन्तु इसका एक परिणाम अच्छा हुआ है। प्रेम की व्यंजना की गुरुता ने उसमें ऐसा वैराग्य ला दिया है जो पाठकों को अभिभूत कर लेता है और बाणभट्ट, भट्टिनी तथा निपुणिका के मनोव्यापारों की व्यंजना के लिए लेखक को अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति के लिए द्विवेदी जी ने हिन्दी में कुछ सीमा तक 'कादंबरी' की शैली की अवतारणा की है। इससे हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु लेखक की अभिव्यंजना-प्रणाली में कृत्रिमता आ गई है, भाषा का सहज प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। शब्दों के प्रयोग में भी एक प्रकार

की कृत्रिमता है। अनेक ऐसे शब्द आ गए हैं जो हिन्दी के साँचे में ठीक ढंग से नहीं बैठ पाते और लम्बी-लम्बी पदावलियाँ भाषा के प्रसन्न प्रवाह में शैवाल-जाल के समान प्रतीत होती हैं। इतना सब होते हुए भी यह एक सफल आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

'चारु-चन्द्रलेख'

'चारु-चन्द्रलेख' द्विवेदी जी का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। यह उपन्यास भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही परम्परा में आता है। किन्तु दोनों की शिल्प विधि में किंचित् अन्तर है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आत्मकथा कहकर उन्होंने पाठकों के सामने एक नया औपन्यासिक प्रतिमान प्रस्तुत किया है, पर 'चारु-चन्द्रलेख' में ऐसा कोई प्रयास नहीं है। परन्तु लेखक ने स्वयं इसमे दो बातें चिन्त्य देखी हैं—'प्रथम तो यह है कि इस पूरी (या वस्तुतः अधूरी) कथा मे चन्द्रलेखा का लिखा अंश बहुत कम है। बाकी अंश जो राजा सातवाहन के मुख से कहलाया गया है, किस प्रकार संगत है, यह स्पष्ट नहीं होता। दूसरी बात यह है कि कथा में अनेक प्रसंगों में परवर्ती ग्रंथों की चर्चा की गई है, एक दोहा तो 'बिहारी सतसई' का भी आ गया है। अरबी-फ़ारसी के शब्द भी प्रचुर मात्रा मे आए हैं।' पहले दोष के परिमार्जन के लिए लेखक ने अघोरनाथ के माध्यम से यह बात स्पष्ट की है पत्थर पर खुदी हुई बातें ही सत्य नहीं होतीं, समाधिस्थ चित्त मे प्रतिफलित बातें भी इतनी ही सत्य होती हैं। इस कथन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यथार्थ का आभास देने के लिए ही लेखक ने उसे पत्थर पर खुदा होना दिखाया है, अन्यथा वह उसके समाधिस्थ चित्त मे ही प्रतिफलित हुई है और सामान्य पाठक को इसमे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। साहित्यिक भ्रांति के सम्प्रयोजन के होने पर भी पाठक इस तथ्य से भली भाँति परिचित रहता है कि समग्र रचना मे लेखक अपनी समस्त शक्ति और सीमा के साथ विद्यमान रहता है। जहाँ तक परवर्ती ग्रंथों की चर्चा का प्रश्न है और अरबी-फ़ारसी के प्रचुर शब्दों का प्रश्न है, सहज रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक परिवेश को निर्मिति मे यह लेखक की असफलता है।

'चारु-चन्द्रलेख' शीर्षक से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि इस उपन्यास का प्रधान पात्र चन्द्रलेखा को होना चाहिए और स्वयं उपन्यासकार ने भी इस बात को चिन्त्य माना है कि इसमें चन्द्रलेखा का लिखा अंश बहुत कम है। ऐसी स्थिति मे इस

की कृत्रिमता है। अनेक ऐसे शब्द आ गए हैं जो हिन्दी के साँचे में ठीक ढंग से नहीं बैठ पाते और लम्बी-लम्बी पदावलियाँ भाषा के प्रसन्न प्रवाह में शैवाल-जाल के समान प्रतीत होती हैं। इतना सब होते हुए भी यह एक सफल आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] है [illegible] को भी
[illegible] हुए हैं जिनसे रूप-दोष आ गया है। '[illegible] किमि न किमि,' यह तुलसीदास
को [illegible] है, इसके प्रयोग के लिए तो [illegible] पर सकता था। ऐतिहासिक उपन्यासकार
को भाषा के सम्बन्ध में [illegible] रूप से ऐतिहासिक होना चाहिए। वह पात्रों [illegible]
के अनुकूल हो सकता है। ऐसा करने पर वह दोषभागी नहीं माना जा सकता।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है राजा सातवाहन। अन्य पात्रों की तुलना में उसका चारित्रिक वैभव फीका पड़ जाता है। वह वीर है, त्यागी है, निर्भीक है, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी निर्णय-शक्ति दुर्बल है। विद्याधर भट्ट की तेजस्विता, वाग्मिता एवं कर्तव्यपरायणता के सामने वह दबा-दबा रहता है। वह स्वयं यह अनुभव करता है कि राजा वह है, किन्तु उससे पूछे बिना ही विद्याधर भट्ट सारे निर्णय ले लेता है। उसे सूचना मात्र दे दी जाती है। तथापि विद्याधर भट्ट पर उसका अडिग विश्वास है। वह जानता है कि भट्ट जो कुछ करता है वह राज्य और राजा के हित के लिए ही। रानी चन्द्रप्रभा के सामने संभवत: वह कुछ [illegible] हो जाता है, नहीं तो रानी के [illegible]रोध को वह इस रूप में स्वीकार न कर पाता। वह रानी को नागनाथ के अतिचारों से सहधर्मिणी होने से रोक सकता था, पर रोक नहीं पाया, क्योंकि उसकी किसी भावना को ठुकराना उसके बस की बात नहीं थी। राजा का जो दर्प होता है, उसका भी उसमें किंचित् अभाव प्रतिभासित होता है और यही कारण है कि छोटी-मोटी शक्तियों के सामने भी वह झुक जाता है। राजा का पात्र प्रारम्भ इस रूप में विकसित हुआ है मानो वह भट्ट पात्र का क्रीड़ा-कौतुक हो, जिसे भट्ट अपनी इच्छानुसार कार्य-सम्पादन के लिए प्रेरित करता है। राजा सातवाहन के चरित्र का जितना स्वतंत्र विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

राजा सातवाहन की तुलना में विद्याधर का चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक धरातल पर हुआ है। उसमें संकल्प शक्ति ही नहीं है, वरन् भरपूर क्रिया-शक्ति है। वार्धक्य के कारण उसकी क्रिया-शक्ति क्षीण नहीं पड़ी है। उसकी दृष्टि बहुत ही भेदक है। सुदूर भविष्य के अन्तराल में भी वह सार वस्तु खोज लाती है। यद्यपि ज्योतिष में उसकी अगाध श्रद्धा है, किन्तु धीर शर्मा के समान वह ज्योतिष ही में नहीं जीना चाहता। उसने यह अनुभव किया है कि नक्षत्रों की गणना करते-करते उसने अपना सारा जीवन

था। असंभाव्य को भी संभाव्य रूप में प्रस्तुत करने में ही कला है, परन्तु यहाँ पर कला कला सिद्ध नहीं हो पाई है; क्योंकि असंभाव्य असंभाव्य और संदिग्ध हो रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार यह संकल्प लेकर चला है कि वह तंत्र, मंत्र, अभिचार आदि से सम्बद्ध तत्कालीन रूढ़ियों और परम्पराओं को आकलित कर उन पर कठोरतम प्रहार करेगा। तत्कालीन भारतवर्ष मिथ्याडम्बरों, धार्मिक अंधविश्वासों और अविचारों की कुहेलिका में आकंठ निमज्जित था। सामान्य जन-समूह सिद्धियों से प्रभावित-अभिभूत था। कर्म पर से लोगों का विश्वास उठ गया था और तंत्र-मंत्र के माध्यम से सिद्धि-प्राप्ति की भावना बलवती हो उठी थी। निठल्ले, चमत्कार-प्राण ढोंगी साधुओं को जनता ने अपना नेता मान लिया था। इतना ही नहीं, वरन् राजा-महाराजा आदि भी इस प्रकार के ढोंगी सिद्धों की सिद्धियों से चमत्कृत-अभिभूत थे। उनमें कर्तव्य-निर्धारण की शक्ति नहीं थी। धरती पर उनका विश्वास नहीं था, उनकी आँखें सदा आकाश की ओर रहती थीं। उन्हें नक्षत्रों से प्रेरणा मिलती थी। तत्कालीन सारा वातावरण कुहेलिकाच्छन्न था। रानी चन्द्रलेखा कोटिवेधी रस के माध्यम से जरा-मरण से मुक्ति का उपाय खोजती थी और उसके माध्यम से ही जन-साधारण के दुःख-दैन्य को दूर करना चाहती थी। राजा सातवाहन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह रानी को ऐसे दुरतिक्रम्य पथ से विचलित कर सकता। विद्याधर भट्ट नक्षत्रों से विजय-पथ खोजते-खोजते दिग्भ्रमित हो गए थे। विषम स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति कुंठित हो चुकी थी। उस युग का धर्मनेता भ्रांत था, साधु-सन्यासी भ्रांत थे, राजा भ्रांत था और सामान्य जनता भी भ्रांत थी। समग्र जीवन कलुषित और अभिशप्त था। चरित्र हीनतर सिद्ध हो चुका था और सारा समाज हतदर्प तथा हतवीर्य हो चुका था। लेखक ने अन्धकाराच्छन्न भारतीय जीवन के इतिहास में सातवाहन और चन्द्रलेखा के प्रकाश पुंज को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अकर्मण्यता और परावलम्बन की कुहेलिका छट जाएगी और कुछ समय के लिए आकाश में प्रकाश-पुंज लीलायित हो उठेगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक का सारा आयोजन अत्यन्त भास्वर और विराट् प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति में लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः तत्कालीन इतिहास का उसे अत्यन्त सूक्ष्म परिचय है और उस युग के सांस्कृतिक जीवन के कण-कण को मानो वह पहचानता है। इस कारण सारा ऐतिहासिक परिवेश यथार्थ-सा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐतिहासिकता से विच्युति भी दृष्टिगत होती है। लेखक अनेक स्थानों पर अपनी वर्णना में भी आधुनिक बन गया है : पंचशील आधुनिक संदर्भ में ही विकसित है, जिसकी चर्चा इस उपन्यास में है। वैसे पंचशील

की मूल भावना गौतम बुद्ध से सम्बद्ध की जा सकती है, परन्तु इसका अपने रूप में प्रचलन आधुनिक ही है। प्रजा या जनता की शक्ति को महत्व प्रदान करना यह भी अपने मूल रूप में आधुनिक है। इस उपन्यास मे उस काल का वर्णन है, जबकि मुसलमानो ने प्रारंभिक रूप मे अपनी सत्ता जमाई थी, उनकी भाषा आदि का अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हुआ था। अतः अरबी-फारसी के शब्दो का निस्संकोच प्रयोग वातावरण की निर्मिति मे बाधक ही सिद्ध होता है। लेखक ने परवर्ती काल की कुछ प्रवृत्तियों की भी अभिव्यक्ति दी है, जिससे काल-दोष आ जाता है। 'कहियत भिन्न न भिन्न,' यह तुलसीदास की अभिव्यक्ति है, इसके प्रयोग के बिना भी काम चल सकता था। ऐतिहासिक उपन्यासकार को तथ्यों के आकलन में समग्र रूप से ऐतिहासिक होना चाहिए। वह अपने निष्कर्षों में आधुनिक हो सकता है। ऐसा करने पर वह दोषभागी नहीं माना जा सकता।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है राजा सातवाहन। अन्य पात्रों की तुलना में उसका चारित्रिक वैभव फीका पड जाता है। वह वीर है, साहसी है, निर्भीक है, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी निर्णय-शक्ति दुर्बल है। विद्याधर भट्ट की तेजस्विता, वाग्मिता एवं कर्तव्यपरायणता से सामने वह दबा-दबा रहता है। वह स्वयं यह अनुभव करता है कि राजा वह है, किन्तु उससे पूछे बिना ही विद्याधर भट्ट सारे निर्णय ले लेता है। उसे सूचना मात्र दे दी जाती है। तथापि विद्याधर भट्ट पर उसका अडिग विश्वास है। वह जानता है कि भट्ट जो कुछ करता है वह राज्य और राजा के हित के लिए ही। रानी चन्द्रप्रभा के सामने समवतः वह कुंठित हो जाता है, नहीं तो रानी के इच्छानुरोध को वह इस रूप मे स्वीकार न कर पाता। वह रानी को नागनाथ के अतिचारों मे सहभागिनी होने मे रोक सकता था, पर रोक नहीं पाया, क्योंकि उसको किसी भावना को ठुकराना उसके बस की बात नहीं थी। राजा का जो दर्प होता है, उसका भी उसमे किंचित् अभाव प्रतिभासित होता है और यही कारण है कि छोटी-छोटी शक्तियों के सामने भी वह झुक जाता है। राजा का पात्र आद्यन्त इस रूप मे विकसित हुआ है मानो वह भट्ट पाद का क्रीडा-कौतुक हो, जिसे भट्ट अपनी इच्छानुसार कार्य-सम्पादन के लिए योजित करता है। राजा सातवाहन के चरित्र का जितना स्वतंत्र विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

राजा सातवाहन की तुलना में विद्याधर का चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक धरातल पर हुआ है। उसमें संकल्प शक्ति ही नहीं है, वरन् भरपूर क्रिया-शक्ति है। वार्धक्य के कारण उसकी क्रिया-शक्ति क्षीण नहीं पडी है। उसकी दृष्टि बहुत ही भेदक है। सुदूर भविष्य के अन्तराल मे भी वह सार वस्तु खोज लेता है। यद्यपि ज्योतिष में उसकी अगाध श्रद्धा है, किन्तु धीर शर्मा के समान वह ज्योतिष ही में नहीं जीना चाहता। उसने यह अनुभव किया है कि नक्षत्रों की गणना करते-करते उसने अपना सारा जीवन

था। धर्मसाध्य को भी संभाव्य रूप में प्रस्तुत करने में ही कला है, परन्तु यहाँ पर कला कला सिद्ध नहीं हो पाई है; क्योंकि धर्मसाध्य धर्मसाध्य और संदिग्ध ही रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार यह संकल्प लेकर चला है कि वह तत्र, मंत्र, अभिचार आदि से सम्बद्ध तत्कालीन रूढ़ियों और परम्पराओं को आकलित कर उन पर कठोरतम प्रहार करेगा। तत्कालीन भारतवर्ष मिथ्याडम्बरों, धार्मिक अंधविश्वासों और अविचारों की कुहेलिका में आकंठ निमज्जित था। सामान्य जन-समूह सिद्धियों से प्रभावित-प्रभिभूत था। कर्म पर से लोगों का विश्वास उठ गया था और तंत्र-मंत्र के माध्यम से सिद्धि-प्राप्ति की भावना बलवती हो उठी थी। निठल्ले, चमत्कार-प्राण ढोंगी साधुओं को जनता ने अपना नेता मान लिया था। इतना ही नहीं, वरन् राजा-महाराजा आदि भी इस प्रकार के ढोंगी सिद्धों की सिद्धियों से चमत्कृत-अभिभूत थे। उनमें कर्तव्य-निर्धारण की शक्ति नहीं थी। धरती पर उनका विश्वास नहीं था, उनकी आँखें सदा आकाश की ओर रहती थीं। उन्हें नक्षत्रों से प्रेरणा मिलती थी। तत्कालीन सारा वातावरण कुहेलिकाच्छन्न था। रानी चन्द्रलेखा कोटिवेधी रस के माध्यम से जरा-मरण से मुक्ति का उपाय खोजती थी और उसके माध्यम से ही जन-साधारण के दुःख-दैन्य को दूर करना चाहती थी। राजा सातवाहन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह रानी को ऐसे दुरतिक्रम्य पथ से विचलित कर सकता। विद्याधर भट्ट नक्षत्रों से विजय-पथ खोजते-खोजते दिग्भ्रमित हो गए थे। विषम स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति कुंठित हो चुकी थी। उस युग का धर्मनेता भ्रांत था, साधु-संन्यासी भ्रांत थे, राजा भ्रांत था और सामान्य जनता भी भ्रांत थी। समग्र जीवन कलुषित और अभिशप्त था। चरित्र हीनतर सिद्ध हो चुका था और सारा समाज हतदर्प तथा हतवीर्य हो चुका था। लेखक ने अन्धकाराच्छन्न भारतीय जीवन के इतिहास में सातवाहन और चन्द्रलेखा के प्रकाश पुंज को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अकर्मण्यता और परावलम्बन की कुहेलिका छट जाएगी और कुछ समय के लिए आकाश में प्रकाश-पुंज लोलायित हो उठेगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक का सारा आयोजन अत्यन्त भास्वर और विराट् प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति में लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः तत्कालीन इतिहास का उसे अत्यन्त सूक्ष्म परिचय है और उस युग के सांस्कृतिक जीवन के कण-कण को मानो वह पहचानता है। इस कारण सारा ऐतिहासिक परिवेश यथार्थ-सा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐतिहासिकता से विच्युति भी दृष्टिगत होती है। लेखक अनेक स्थानों पर अपनी वर्णना में भी आधुनिक बन गया है : पंचशील अधुनिक संदर्भ में ही विकसित है, जिसकी चर्चा इस उपन्यास में है। वैसे पंचशील

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है राजा सातवाहन। अन्य पात्रों की तुलना में उसका चारित्रिक वैभव फीका पड़ जाता है। वह वीर है, साहसी है, निर्भीक है, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी निर्णय-शक्ति दुर्बल है। विद्याधर भट्ट की तेजस्विता, वाग्मिता एवं बुद्धिपरायणता के सामने वह दबा-दबा रहता है। वह स्वयं यह अनुभव करता है कि राजा वह है, किन्तु उससे पूछे बिना ही विद्याधर भट्ट सारे निर्णय ले लेता है। उसे सूचना मात्र दे दी जाती है। तथापि विद्याधर भट्ट पर उसका अडिग विश्वास है। वह जानता है कि भट्ट जो कुछ करता है वह राज्य और राजा के हित के लिए ही। रानी चन्द्रप्रभा के सामने संभवतः वह कुंठित हो जाता है, नहीं तो रानी के हठानुरोध को वह इस रूप में स्वीकार न कर पाता। वह रानी को नागनाथ के प्रतिचारों से सहभागिनी होने से रोक सकता था, पर रोक नहीं पाया, क्योंकि उसकी किसी भावना को ठुकराना उसके बस की बात नहीं थी। राजा का जो दर्प होता है, उसका भी उसमें किंचित् प्रभाव प्रतिभासित होता है और यही कारण है कि छोटी-छोटी शक्तियों के सामने भी वह झुक जाता है। राजा का पात्र आद्यन्त इस रूप में विकसित हुआ है मानो वह भट्ट पाद का क्रीडा-कौतुक हो, जिसे भट्ट अपनी इच्छानुसार कार्य-सम्पादन के लिए योजित करता है। राजा सातवाहन के चरित्र का जितना स्वतंत्र विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

राजा सातवाहन की तुलना में विद्याधर का चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक धरातल पर हुआ है। उसमें संकल्प शक्ति ही नहीं है, वरन् भरपूर क्रिया-शक्ति है। वार्धक्य के कारण उसकी क्रिया-शक्ति क्षीण नहीं पड़ी है। उसकी दृष्टि बहुत ही भेदक है। सुदूर भविष्य के अन्तराल से भी वह सार वस्तु खोज लाती है। यद्यपि ज्योतिष में उसकी अगाध श्रद्धा है, किन्तु धीर शर्मा के समान वह ज्योतिष ही में नहीं जीना चाहता। उसने यह अनुभव किया है कि नक्षत्रों की गणना करते-करते उसने अपना सारा जीवन

था। अगम्य को भी संभाव्य रूप में प्रस्तुत करने में ही कला है, परन्तु यहाँ पर कला कला सिद्ध नहीं हो पाई है, क्योंकि अगम्य अगम्य और संदिग्ध ही रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार यह संकल्प लेकर चला है कि वह तंत्र, मंत्र, अभिचार आदि से सम्बद्ध तत्कालीन रूढ़ियों और परम्पराओं को आकलित कर उन पर कठोरतम प्रहार करेगा। तत्कालीन भारतवर्ष मिथ्याडम्बरों, धार्मिक अंधविश्वासों और अविचारों की कुहेलिका में आकंठ निमज्जित था। सामान्य जन-समूह सिद्धियों से प्रभावित-अभिभूत था। कर्म पर से लोगों का विश्वास उठ गया था और तंत्र-मंत्र के माध्यम से सिद्धि-प्राप्ति की भावना बलवती हो उठी थी। निठल्ले, चमत्कार-प्रिय ढोंगी साधुओं को जनता ने अपना नेता मान लिया था। इतना ही नहीं, वरन् राजा-महाराजा आदि भी इस प्रकार के ढोंगी सिद्धों की सिद्धियों से चमत्कृत-अभिभूत थे। उनमें कर्तव्य-निर्धारण की शक्ति नहीं थी। धरती पर उनका विश्वास नहीं था, उनकी आँखें सदा आकाश की ओर रहती थीं। उन्हें नक्षत्रों से प्रेरणा मिलती थी। तत्कालीन सारा वातावरण कुहेलिकाच्छन्न था। रानी चन्द्रलेखा कोटिवेधी रस के माध्यम से जरा-मरण से मुक्ति का उपाय खोजती थी और उसके माध्यम से ही जन-साधारण के दुःख-दैन्य को दूर करना चाहती थी। राजा सातवाहन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह रानी को ऐसे दुरतिक्रम्य पथ से विचलित कर सकता। विद्याधर भट्ट नक्षत्रों से विजय-पथ खोजते-खोजते दिग्भ्रमित हो गए थे। विषम स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन की शक्ति कुंठित हो चुकी थी। उस युग का धर्मनेता भ्रांत था, साधु-संन्यासी भ्रांत थे, राजा भ्रांत था और सामान्य जनता भी भ्रांत थी। समग्र जीवन कलुषित और अभिशप्त था। चरित्र हीनतर सिद्ध हो चुका था और सारा समाज हतदर्प तथा हतवीर्य हो चुका था। लेखक ने अन्धकाराच्छन्न भारतीय जीवन के इतिहास में सातवाहन और चन्द्रलेखा के प्रकाश पुंज को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि अकर्मण्यता और परावलम्बन की कुहेलिका छट जाएगी और कुछ समय के लिए आकाश में प्रकाश-पुंज लीलायित हो उठेगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक का सारा आयोजन अत्यन्त भास्वर और विराट् प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति में लेखक को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। वस्तुतः तत्कालीन इतिहास का उसे अत्यन्त सूक्ष्म परिचय है और उस युग के सांस्कृतिक जीवन के कण-कण को मानो वह पहचानता है। इस कारण सारा ऐतिहासिक परिवेश यथार्थ-सा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐतिहासिकता से विच्युति भी दृष्टिगत होती है। लेखक अनेक स्थानों पर अपनी वर्णना में भी आधुनिक बन गया है : पंचशील आधुनिक संदर्भ में ही विकसित है, जिसकी चर्चा इस उपन्यास में है। वैसे पंचशील

की मूल भावना गौतम बुद्ध से सम्बद्ध की जा सकती है, परन्तु इसका अपने रूप मे प्रचलन आधुनिक ही है। प्रजा या जनता की शक्ति को महत्त्व प्रदान करना यह भी अपने मूल रूप में आधुनिक है। इस उपन्यास में उस काल का वर्णन है, जबकि मुसलमानो ने प्रारंभिक रूप मे अपनी सत्ता जमाई थी, उनकी भाषा आदि का अधिक प्रचार-प्रसार नही हुआ था। अतः अरबी-फारसी के शब्दो का निस्संकोच प्रयोग वातावरण की निर्मिति मे बाधक ही सिद्ध होता है। लेखक ने परवर्ती काल की कुछ प्रवृत्तियों को भी अभिव्यक्ति दी है, जिससे काल-दोष आ जाता है। 'कहियत भिन्न न भिन्न,' यह तुलसीदास की अभिव्यक्ति है, इसके प्रयोग के बिना भी काम चल सकता था। ऐतिहासिक उपन्यासकार को तथ्यों के आकलन मे समग्र रूप से ऐतिहासिक होना चाहिए। वह अपने निष्कर्षों में आधुनिक हो सकता है। ऐसा करने पर वह दोषभागी नहीं माना जा सकता।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है राजा सातवाहन। अन्य पात्रों की तुलना में उसका चारित्रिक वैभव फीका पड़ जाता है। वह वीर है, साहसी है, निर्भीक है, परन्तु ऐसा लगता है कि उसकी निर्णय-शक्ति दुर्बल है। विद्याधर भट्ट की तेजस्विता, वाग्मिता एवं कर्तव्यपरायणता से सामने वह दबा-दबा रहता है। वह स्वयं यह अनुभव करता है कि राजा वह है, किन्तु उससे पूछे बिना ही विद्याधर भट्ट सारे निर्णय ले लेता है। उसे सूचना मात्र दे दी जाती है। तथापि विद्याधर भट्ट पर उसका अडिग विश्वास है। वह जानता है कि भट्ट जो कुछ करता है वह राज्य और राजा के हित के लिए ही। रानी चन्द्रप्रभा के सामने सभवत: वह कुंठित हो जाता है, नही तो रानी के छंदानुरोध को वह इस रूप मे स्वीकार न कर पाता। वह रानी को नागनाथ के अभिचारों मे सहभागिनी होने मे रोक सकता था, पर रोक नहीं पाया; क्योंकि उसको किसी भावना को ठुकराना उसके बस की बात नही थी। राजा का जो दर्प होता है, उसका भी उसमे किंचित् अभाव प्रतिभासित होता है और यही कारण है कि छोटी-छोटी शक्तियों के सामने भी वह झुक जाता है। राजा का पात्र आद्यन्त इस रूप मे विकसित हुआ है मानो वह भट्ट पाद का क्रीडा-कौतुक हो, जिसे भट्ट अपनी इच्छानुसार कार्य-सम्पादन के लिए मोडित करता है। राजा सातवाहन के चरित्र का जितना स्वतंत्र विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है।

राजा सातवाहन की तुलना में विद्याधर का चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक धरातल पर हुआ है। उसमें संकल्प शक्ति ही नहीं है, वरन् भरपूर क्रिया-शक्ति है। वार्धक्य के कारण उसकी क्रिया-शक्ति क्षीण नहीं पड़ी है। उसकी दृष्टि बहुत ही भेदक है। सुदूर भविष्य के अन्तराल से भी वह सार वस्तु खोज लाती है। यद्यपि ज्योतिष में उसकी अगाध श्रद्धा है, किन्तु धीर शर्मा के समान वह ज्योतिष ही में नहीं खोना चाहता। उसने यह अनुभव किया है कि नक्षत्रों की गणना करते-करते उसने अपना सारा जीवन

व्यतीत कर दिया, पर कार्य-सिद्धि कभी भी नहीं मिली। वह निरन्तर भटकता रहा। इसीलिए तुर्कों का सामना करने के लिए चम्बल-घाटी के अभियान के समय उसने नक्षत्रों को नहीं देखा, केवल अवसर को देखा और इसी कारण उसे सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार की अप्रत्याशित विजय से उसका उत्साह विवर्धमान हो उठा और वह यह अनुभव करने लगा कि इसी प्रकार साहस और शक्ति का परिचय कर देश को विजातीयों-विदेशियों के चंगुल से मुक्त किया जा सकता है। राजनीति, कूटनीति और रणनीति तीनों में उसकी अच्छी गति थी और उनकी समस्त सूक्ष्मताओं में वह पारंगत था। उपन्यासकार ने अनेक स्थानों पर उसकी उक्त नीतियों की सफलता का संकेत किया है। विद्याधर भट्ट में ऐसी आंतरिक शक्ति थी कि उसके सामने आने पर तेजस्वी व्यक्ति भी हतप्रभ हो जाता था। उसकी शक्ति केवल एक बार सीदी मौला के सामने कुंठित हुई थी। उसकी स्वामि-भक्ति अकुंठित थी। उसके समस्त कार्यों के ताने-बाने के मूल में उसकी अपरिसीम राजभक्ति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजा सातवाहन की क्रिया-शक्ति का जीवन्त विग्रह था।

बोधा विद्याधर की राजनीति, कूटनीति और रणनीति का व्याख्याता था। भट्टपाद की नीतियों का कुशल क्रियान्वय उसकी सफलता थी। वस्तुतः बोधा ही ऐसा माध्यम था, जिससे विद्याधर सफलता के सोपान पर चढ़ पाते थे। लेखक ने बोधा के व्यक्तित्व को कुछ रहस्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हाड़-मांस का पिंड होने पर भी वह ऊर्जा-मात्र है और उसके शरीर के अंश-अंश में मानो मस्तिष्क की ही शिराएँ हैं, उसका सर्वांग चेतना का ही पुंजीभूत रूप है, जड़ तत्त्व उसमें है ही नहीं। उसके समस्त पक्षों को देखते हुए ऐसा प्रतिभासित होता है कि शायद उसके शरीर में हृत्पिंड नहीं है, वह सर्वथा राग शून्य है, किन्तु उसके मन के गहनतम, निभृत कोने में मैना की मूर्ति विद्यमान रही है, जिसने उसे जागतिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे मानवीय संवेदना से युक्त सिद्ध कर दिया है। बोधा के निर्माण में लेखक को अच्छी सफलता मिली है।

रानी चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व को लेखक ने बहुत ही आकर्षक और हृद्य बनाया है। वस्तुतः चन्द्रलेखा सौंदर्य की प्रतिमान है, 'सुन्दरता को सुन्दर करई', विधाता की अनुपम-अप्रतिम सृष्टि है। लेखक ने अपनी लेखनी की सारी शक्ति लगाकर उसके सौंदर्य के समस्त उपादान जुटाए हैं। उसमें जैसा बाह्य सौंदर्य है वैसा ही आन्तरिक सौंदर्य है : अन्तर्बाह्य का अद्भुत सामंजस्य है। कालिदास ने कहा है कि सौंदर्य की प्रवृत्ति पाप-वृत्ति की ओर नहीं होती, उनका यह कथन चन्द्रलेखा के चरित्र पर पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। अन्य रानियों की तुलना में भी चन्द्रलेखा कुछ अधिक प्रतीत होती है।

वह ग्रहमिका के गुंजलक से प्रावृत नहीं है। छोटे-बड़े सबके प्रति उसमें समभाव है। अपने हृदय की उन्मुक्तता के कारण ही नागनाथ के प्रति करुणार्द्र होकर वह द्रवक आती है और उनकी विकट साधना में सहयोगिनी बनती है। राजा को जन-जागरण का मंत्र देकर तथा उन्हें सर्वतोभावेन: सहयोग का आश्वासन देकर भी वह नागनाथ की विकट, कृच्छ्र साधना में सहयोग देती है। वस्तुतः इस सहयोग के पीछे भी उसकी लोक-मंगल की भावना का प्राधान्य था, क्योंकि कोटिवेधी रस के द्वारा वह निखिल लोक का जरा-मृत्यु आदि के बन्धन से सर्वदा के लिए मोक्ष चाहती थी; किन्तु उसकी साधना विफल हो गई, उसका मन कुंठित हो गया तथा द्विधा-विभक्त उसका व्यक्तित्व न तो समग्र भाव से राजा का ही हो सका और न तो रस. साधना में हो लीन हो सका। उसके मन के किसी कोने में नागनाथ के प्रति भी कोमल भाव उदित हो गया था, जिसने उसे और कुंठित बनाया। रानी चन्द्रलेखा राजा के लिए प्रेरणा-स्रोत थी, विद्याधर की योजना में देवी-रूप में सम्पूजित हो समादृत थी, मैना की शक्ति को उपचीयमान करने में सहायक थी, परन्तु उसका स्वाभाविक विकास मानसिक ऊहापोह और द्विविधा के कारण प्रतिरुद्ध हो गया। प्रारंभ में जिस शक्ति-तेज-स्फुलिंग रूप में उसकी कल्पना की गई थी, उसका क्रमिक विकास नहीं प्रस्तुत किया जा सका।

मैना-मैनसिंह-मदनवती इस उपन्यास की अभिराम कल्पना है। वह राजा सातवाहन की साक्षात् क्रिया-शक्ति है। अत्यन्त कमनीय नारी विग्रह में मानो वीर रस ही अवतरित हो गया है। नारी-सहज लज्जा और व्रीड़ा के अवगुंठन के भीतर झाँकता वीरदर्प लोमहर्षक प्रतीत होता है। समग्र उपन्यास में यही ऐसा पात्र है, जिसे तत्कालीन ग्रह-नक्षत्रों की माया ने अभिभूत नहीं किया, जिसे तान्त्रिक अनिचार ने विश्रृंहित नहीं बनाया और जो परम्परा-प्रवाह से अतीत दासों की परम्परा में, जीवन के वर्तमान में ही सब कुछ देखने की अभ्यस्त थी। लेखक ने उसका निर्माण ही इस रूप में किया है मानो वह केवल चेतन-पिंड है, जड़-तत्त्व से सर्वथा असपृक्त। उसमें जीवन-ज्योति इस रूप में विभासवती हो उठी है कि उसमें विद्याधर भट्ट जैसे समर्थ, अपराजेय व्यक्ति उचित प्रकाश पाते हैं। उसमें समय को पकड़ सकने की ऐसी क्षमता है कि सीदी मौला जैसा प्रकृतिस्थ एवं दुरतिक्रम्य व्यक्ति भी अभिभूयमान हो उठता है। उपन्यास में जहाँ से मैना का प्रवेश होता है और जहाँ तक वह रहती है, उसकी प्रखर ज्योति से सारा वातावरण आपूरित-सा प्रतीत होता है। उसमें जो अहैतुकी सेवा-भावना है, अपने प्यार को दाक्षाफल के समान दारित कर देने की जो दुर्दमनीय भावना है, जो अपूर्व तेजस्विता-तिग्मता है और अहैतुक सेवा-भाव में पुष्पवत् मन के बह जाने की भावना को निरस्त करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह सब उसके व्यक्तित्व को महार्घ बना देता है। पूरे उपन्यास में यही ऐसा भास्वर पात्र है जो पाठकों

प्रयोग कर दिया, पर कार्य-सिद्धि कभी भी नहीं मिली। वह निरन्तर भटकता ही रहा। इसीलिए युद्धों का सामना करने के लिए पाञ्चन-पाटी के अधिकार के प्रश्न उसने शास्त्रों को नहीं देखा, केवल अवसर को देखा और इसी कारण उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रकार की अप्रत्याशित विजय से उसका उत्साह विवर्धमान हो उठा और वह यह अनुभव करने लगा कि इसी प्रकार साहस और शक्ति का परिचय दे कर देश को विजातीयों-विदेशियों के चंगुल से मुक्त किया जा सकता है। राजनीति, कूटनीति और रणनीति तीनों में उसकी अच्छी गति थी और उनकी समस्त गूढ़ताओं में वह पारंगत था। उपन्यासकार ने अनेक स्थानों पर उसकी उक्त नीतियों की सफलता का संकेत किया है। विद्याधर भट्ट में ऐसी आंतरिक शक्ति थी कि उसके सामने आने पर तेजस्वी व्यक्ति भी हतप्रभ हो जाता था। उसकी शक्ति केवल एक बार सोढी मोला के सामने कुंठित हुई थी। उसकी स्वामि-भक्ति अकुंठित थी। उसके समस्त कार्यों के मूल में उसकी अपरिसीम राजभक्ति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजा सातवाहन की क्रिया-शक्ति का जीवन्त विग्रह था।

बोधा विद्याधर की राजनीति, कूटनीति और रणनीति का व्याख्याता था। भट्टपाद की नीतियों का कुशल क्रियान्वय उसकी सफलता थी। वस्तुतः बोधा ही ऐसा माध्यम था, जिससे विद्याधर सफलता के सोपान पर चढ़ पाते थे। लेखक ने बोधा के व्यक्तित्व को कुछ रहस्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हाड़-मांस का पिंड होने पर भी वह ऊर्जा-मात्र है और उसके शरीर के अंश-अंश में मानो मस्तिष्क की ही शिराएँ हैं, उसका सर्वांग चेतना का ही पुंजीभूत रूप है, जड़ तत्व उसमे है ही नहीं। उसके समस्त पक्षों को देखते हुए ऐसा प्रतिभासित होता है कि शायद उसके शरीर मे हृत्पिंड नहीं है, वह सर्वथा राग शून्य है, किन्तु उसके मन के गहनतम, निभृत कोने में मैना की मूर्ति विद्यमान रही है, जिसने उसे जागतिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे मानवीय संवेदना से युक्त सिद्ध कर दिया है। बोधा के निर्माण में लेखक को अच्छी सफलता मिली है।

रानी चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व को लेखक ने बहुत ही आकर्षक और हृद्य बनाया है। वस्तुतः चन्द्रलेखा सौंदर्य की प्रतिमान है, 'सुन्दरता को सुन्दर करई', विधाता की अनुपम-अप्रतिम सृष्टि है। लेखक ने अपनी लेखनी की सारी शक्ति लगाकर उसके सौंदर्य के समस्त उपादान जुटाए हैं। उसमें जैसा बाह्य सौंदर्य है वैसा ही आन्तरिक सौंदर्य है : अन्तर्बाह्य का अद्भुत सामंजस्य है। कालिदास ने कहा है कि सौंदर्य की प्रवृत्ति पाप-वृत्ति की ओर नहीं होती, उनका यह कथन चन्द्रलेखा के चरित्र पर पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। अन्य रानियों की तुलना में भी चन्द्रलेखा कुछ अधिक प्रतीत होती है।

ह दार्शनिक के सूक्ष्म से सम्पृक्त नहीं है। छोटे-बड़े सबके प्रति उसके सद्भाव है। उसे हृदय की उदात्तता के कारण ही मानवता के प्रति करुणार्द्र होकर वह द्रवक उठी है और उनकी हित-कामना से अनुप्रेरित रहती है। राजा को भ्र-आचरण [illegible] स्वर्गोपलब्धि, सहयोग का उपक्रम देकर भी वह नागराज [illegible] सहज रूप से सहयोग देती है। वस्तुतः इस सहयोग के पीछे भी उसकी लोक-मंगल की भावना का प्राधान्य था, क्योंकि कोटिदेवी रस के द्वारा वह निखिल लोक का जन्म-मृत्यु आदि के बन्धन से सर्वदा के लिए मोक्ष चाहती थी, किन्तु उसकी [illegible] लिप्त हो गई, उसका मन कुंठित हो गया तथा क्रिया-विभ्रम उसका [illegible] मन्द भाव से राजा का ही हो सका और न तो तांत्रिक साधना से हो लीन हो सका। उसके मन के किसी कोने में नागराज के प्रति भी कोमल भाव उदित हो गया था, जिसने उसे और कुंठित बनाया। रानी चन्द्रलेखा राजा के लिए प्रेरणा-स्रोत थी, विद्याधर की योजना में देवी-रूप में सम्पूजित हो समादृत थी, मैना की शक्ति को उपभोग्यमान करने में सहायक थी, परन्तु उसका स्वाभाविक विकास मानसिक ऊहापोह और द्विविधा के कारण प्रतिरुद्ध हो गया। प्रारंभ में जिस शक्ति-तेज-स्फुलिंग रूप में उसकी कल्पना की गई थी, उसका क्रमिक विकास नहीं प्रस्तुत किया जा सका।

मैना-मैनसिंह-मदनवती इस उपन्यास की अभिराम कल्पना है। वह राजा सातवाहन की साक्षात् क्रिया-शक्ति है। अत्यन्त कमनीय नारी विग्रह में मानो वीर रस ही अवतरित हो गया है। नारी-सहज लज्जा और व्रीडा के अवगुंठन के भीतर झांकता वीरदर्प सौन्दर्य प्रतीत होता है। समग्र उपन्यास में यही ऐसा पात्र है, जिसे तत्कालीन ग्रह-नक्षत्रों की माया ने अभिभूत नहीं किया, जिसे तांत्रिक अभिचार ने विभ्रमित नहीं बनाया और जो परम्परा-प्रवाह से अतीत क्षणों की परम्परा में, जीवन के वर्तमान में ही सब कुछ देखने की अभ्यस्त थी। लेखक ने उसका निर्माण ही इस रूप में किया है मानो वह केवल चेतन-पिंड है, जड़-तत्त्व से सर्वथा असपृक्त। उसमें जीवन-ज्योति इस रूप में विलासवती हो उठी है कि उसमें विद्याधर भट्ट जैसे समर्थ, अपराजेय व्यक्ति उचित प्रकाश पाते हैं। उसमें समय को पकड़ सकने की ऐसी क्षमता है कि सीदी मौला जैसा प्रकृतिस्थ एवं दुरतिक्रम्य व्यक्ति भी अभिभूयमान हो उठता है। उपन्यास में जहाँ से मैना का प्रवेश होता है और जहाँ तक वह रहती है, उसकी प्रखर ज्योति से सारा वातावरण आपूरित-सा प्रतीत होता है। उसमें जो अहैतुकी सेवा-भावना है, अपने आप को द्राक्षाफल के समान क्षरित कर देने की जो दुर्दमनीय भावना है, जो अपूर्व तेजस्विता-निर्मलता है और अहैतुक सेवा-भाव में पुष्पवत् मन के बह जाने की आशंका को निरस्त करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह सब उसके व्यक्तित्व को महार्घ बना देता है। पूरे उपन्यास में यही ऐसा भास्वर पात्र है जो पाठकों

व्यतीत कर दिया, पर कार्य-सिद्धि कभी भी नहीं मिली। वह निरन्तर भटकता ही रहा। इसीलिए तुर्कों का सामना करने के लिए चम्बल-घाटी के अभियान के समय उसने नक्षत्रों को नहीं देखा, केवल अवसर को देखा और इसी कारण उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रकार की अप्रत्याशित विजय से उसका उत्साह विवर्धमान हो उठा और वह यह अनुभव करने लगा कि इसी प्रकार साहस और शक्ति का परिचय दे कर देश को विजातीयों-विदेशियों के चंगुल से मुक्त किया जा सकता है। राजनीति, कूटनीति और रणनीति तीनों में उसकी अच्छी गति थी और उनकी समस्त सूक्ष्मताओं में वह पारंगत था। उपन्यासकार ने अनेक स्थानों पर उसकी उक्त नीतियों की सफलता का संकेत किया है। विद्याधर भट्ट में ऐसी आंतरिक शक्ति थी कि उसके सामने आने पर तेजस्वी व्यक्ति भी हतप्रभ हो जाता था। उसकी शक्ति केवल एक बार सीदी मौला के सामने कुंठित हुई थी। उसकी स्वामि-भक्ति अकुंठित थी। उसके समस्त कार्यों के ताने-बाने के मूल में उसकी अपरिसीम राजभक्ति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह राजा सातवाहन की क्रिया-शक्ति का जीवन्त विग्रह था।

बोधा विद्याधर की राजनीति, कूटनीति और रणनीति का व्याख्याता था। भट्टपाद की नीतियों का कुशल क्रियान्वय उसकी सफलता थी। वस्तुतः बोधा ही ऐसा माध्यम था, जिससे विद्याधर सफलता के सोपान पर चढ़ पाते थे। लेखक ने बोधा के व्यक्तित्व को कुछ रहस्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हाड़-मांस का पिंड होने पर भी वह ऊर्जा-मात्र है और उसके शरीर के अंग-अंग में मानो मस्तिष्क की ही शिराएँ हैं, उसका सर्वांग चेतना का ही पुंजीभूत रूप है, जड़ तत्त्व उसमें है ही नहीं। उसके समस्त पक्षों को देखते हुए ऐसा प्रतिभासित होता है कि शायद उसके शरीर में हृत्पिंड नहीं है, वह सर्वथा राग शून्य है, किन्तु उसके मन के गहनतम, निभृत कोने में मैना की मूर्ति विद्यमान रही है, जिसने उसे जागतिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे मानवीय संवेदना से युक्त सिद्ध कर दिया है। बोधा के निर्माण में लेखक को अच्छी सफलता मिली है।

रानी चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व को लेखक ने बहुत ही आकर्षक और हृद्य बनाया है। वस्तुतः चन्द्रलेखा सौंदर्य की प्रतिमान है, 'सुन्दरता को सुन्दर करई', विधाता की अनुपम-अप्रतिम सृष्टि है। लेखक ने अपनी लेखनी की सारी शक्ति लगाकर उसके सौंदर्य के समस्त उपादान जुटाए हैं। उसमें जैसा बाह्य सौंदर्य है वैसा ही आन्तरिक सौंदर्य है : अन्तर्बाह्य का अद्भुत सामंजस्य है। कालिदास ने कहा है कि सौंदर्य की प्रवृत्ति पाप-वृत्ति की ओर नहीं होती, उनका यह कथन चन्द्रलेखा के चरित्र पर पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। अन्य रानियों की तुलना में भी चन्द्रलेखा कुछ अधिक प्रतीत होती है।

वह महमिका के गुञ्जलक से भावृत्त नही है। छोटे-बडे सबके प्रति उसमे समभाव है। अपने हृदय की उन्मुक्तता के कारण ही नागनाथ के प्रति करुणार्द्र होकर वह ढरक जाती है और उसकी विकट साधना मे सहयोगिनी बनती है। राजा को जन-जागरण का मन्त्र देकर तथा उन्हें सर्वतोभावेन: सहयोग का आश्वासन देकर भी वह नागनाथ की विकट, दुरूह साधना में सहयोग देती है। वस्तुतः इस सहयोग के पीछे भी उसकी लोक-मंगल की भावना का प्राधान्य था, क्योंकि कोटिवेधी रस के द्वारा वह निखिल लोक का जरा-मृत्यु आदि के बन्धन से सर्वदा के लिए मोक्ष चाहती थी, किन्तु उसकी साधना विफल हो गई, उसका मन कुंठित हो गया तथा द्विधा-विभक्त उसका व्यक्तित्व न तो समग्र भाव से राजा का ही हो सका और न तो तत: साधना मे ही लीन हो सका। उसके मन के किसी कोने मे नागनाथ के प्रति भी कोमल भाव उदित हो गया था, जिसने उसे और कुंठित बनाया। रानी चन्द्रलेखा राजा के लिए प्रेरणा-स्रोत थी, विद्याधर की योजना मे देवी-रूप मे सम्पूजित हो समादृत थी, मैना की शक्ति को उपचीयमान करने मे सहायक थी, परन्तु उसका स्वाभाविक विकास मानसिक ऊहापोह और द्विविधा के कारण प्रतिरुद्ध हो गया। आरंभ में जिस शक्ति-तेज-स्फुलिंग रूप में उसकी कल्पना की गई थी, उसका क्रमिक विकास नहीं प्रस्तुत किया जा सका।

मैना-मैनसिंह-मदनवती इस उपन्यास की अभिराम कल्पना है। वह राजा सातवाहन की साक्षात् क्रिया-शक्ति है। अत्यन्त कमनीय नारी विग्रह मे मानो वीर रस ही अवतरित हो गया है। नारी-सहज लज्जा और व्रीडा के अवगुंठन के भीतर झाँकता वीरदर्प लोमहर्षक प्रतीत होता है। समग्र उपन्यास मे यही ऐसा पात्र है, जिसे तत्कालीन ग्रह-नक्षत्रो की माया ने अभिभूत नहीं किया, जिसे तान्त्रिक अभिचार ने विजड़ित नहीं [illegible]

इसका मूल्य सभी को चुकाना पड़ेगा। 'सबको अपने किए का फल भोगना पड़ता है—व्यक्ति को भी, जाति को भी, देश को भी। कोई नहीं जानता कि विधाता का कर्म-फल-विधान कौन-सा रूप लेने जा रहा है। सारी दुनिया की चिन्ता छोड़ो, अपनी चिन्ता करो। भारतवर्ष की धर्म-व्यवस्था में बहुत छिद्र हो गए हैं।' तापस के माध्यम से लेखक ने देश में जमी कीट की ओर संकेत किया है। वह धार्मिक आडम्बरों को देश के लिए बहुत बड़ा अभिशाप समझता है।

लेखक समस्त जन-समूह को दिङ्-मूढ़ और भ्रमित पाता है। दैवी शक्तियों के प्रति जन-समूह की आस्था और मोह को वह बहुत बड़ी विडम्बना समझता था। केवल दैवी शक्तियों का विश्वास मनुष्य को कहीं का नहीं छोड़ेगा। यही कारण है कि सीदी मौला कहता है—'वे मूढ़ हैं जो भौतिक और दैवी शक्तियों का सामंजस्य नहीं कर सकते।' केवल दैवी शक्ति पर विश्वास करने वाले धीरे-धीरे आत्म-विश्वास खो बैठते हैं। यदि आत्मविश्वास नहीं है तो किसी भी राष्ट्र का भविष्य अधकाराच्छन्न हो माना जाएगा। इसीलिए विद्याधर भट्ट कहता है—'शस्त्र बल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा-का-सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाए, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्म-विश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।' सिद्धियों के पीछे दौड़ना केवल मृगमरीचिका है। मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति उसका चरित्र-बल है। साधना-निरत अमोघवज्र के माध्यम से लेखक ने यह सिद्धांत-पक्ष प्रतिपादित किया है—'सिद्धियाँ मनुष्य को कुछ विशेष बल नहीं देतीं। एक साधारण किसान, जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े-से-बड़े सिद्ध से ऊँचा है। चरित्र-बल समस्त शक्तियों का अक्षय भंडार है। जिस साधना से यह महान् शक्ति-स्रोत सूख जाता है, वह व्यर्थ है।' द्विवेदी जी ने उस समाज को पंगु कहा है जिसकी स्वतंत्र इच्छा समाप्त हो जाती है। जो रूढ़ियों, आप्त वाक्यों और शास्त्र-विधानों के द्वारा चलाया जाने लगता है। व्यक्ति की पंगुता से कहीं अधिक भयंकर होती है समाज की - का वर्तमान समाज इसी पंगुता का

अपने अपने अजनबी

प्रयोग की दृष्टि से अज्ञेय का प्रत्येक उपन्यास अपना महत्व रखता है। 'अपने अपने अजनबी' में उन्होंने पाश्चात्य जीवन की उस विभीषिकामयी स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है जिससे वहाँ का साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति आक्रांत है और जिसमें अपने-अपने भी अजनबी जैसे प्रतिभासित होते हैं। प्रकाशकीय वक्तव्य में ऐसा कहा गया है कि 'मृत्यु से साक्षात्कार' को विषय बनाकर मानव के जीवन और उसकी नियति का इतने कम और इतने सरल शब्दों में ऐसा मार्मिक और भव्य विवेचन शायद ही कोई दूसरा लेखक कर सकता था। 'मदक' इस उपन्यास को 'योरोपीय सभ्यता पर व्यंग्य' मानते हैं और विश्वम्भर 'मानव' इसे मृत्यु के साक्षात्कार का उपन्यास न कह 'यूरोप के जीवन पर, जहाँ आत्मीयता की भारी कमी है, गहरा व्यंग्य' मानते हैं।[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ० रघुवंश इस उपन्यास में अस्तित्ववादी प्रतिमानों का प्रयोग तो मानते हैं, किन्तु वे इसे अस्तित्ववादी उपन्यास नहीं कहते।[2] गंगाप्रसाद पाण्डेय के अनुसार 'इस उपन्यास में यास्पर्स का चिंतनशील शुद्ध अस्तित्ववाद नहीं है। लेकिन इसमें सार्त्र के विकृत अस्तित्ववाद का प्रतिपादन अवश्य हुआ है।'[3] डॉ० देवराज ने इस उपन्यास को अस्तित्ववादियों के से अतिशयित अथवा अतिरंजित स्थितियों के साहित्य (लिट्रेचर ऑव एक्स्ट्रीम सिचुएशन्स) की कोटि में रखा है।[4] वस्तुतः लेखक ने इस उपन्यास में अस्तित्ववादी दृष्टि को ही रूपायित करने का प्रयत्न किया है। यह दूसरी बात है कि इस प्रयत्न में उसे यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

---

१. माध्यम (अक्टूबर, १९६४), पृष्ठ ९३।
२. माध्यम,, पृष्ठ ८२-९०, ९३।
३. माध्यम,, पृष्ठ ९०।
४. हिन्दी वार्षिकी १९६१, पृष्ठ १३३।

'अपने अपने अजनबी' लेखक की सहज अनुभूति से निष्पन्न उपन्यास नहीं है, वरन् इसमें लेखक आरोपित अनुभूति को लेकर चला है। यही कारण है कि इस उपन्यास में आद्यन्त सहजता नहीं है। पश्चिम का जीवन वैयक्तिक सम्बन्धों की विरलता के कारण हिमावृत उस काठघर के जीवन के समान है जिसमें दो प्राणी परिस्थितिवश बन्द होने के लिए विवश हो गए हैं, किन्तु वे दोनों अपने चारित्रिक-वैशिष्ट्य के कारण एक दूसरे से अजनबी हैं और अजनबी बने रहना चाहते हैं। लेखक ने हिमावृत काठघर और प्लावनग्रस्त धनुषाकार पुल की योजना प्रतीकात्मक रूप में इसी तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए की है। अस्तित्ववाद का चरम विकास दो महायुद्धों की विभीषिकामयी स्थिति में हुआ है। यही कारण है कि उसमें विवशता और नैराश्य का स्वर मुखर है और मृत्यु की अनिवार्यता के कारण मानव की असहाय स्थिति का अत्यन्त मार्मिक विवेचन है। मनुष्य का अस्तित्व मृत्यूमुख है। कोई उसे बचा नहीं सकता। इस निराशामयी स्थिति में वह अपनी सत्ता महाशून्य में उछाली हुई पाता है। लेखक ने 'अपने अपने अजनबी' में उसे केन्द्रानुभूति के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

अस्तित्ववाद में अस्तित्व तत्त्व का पूर्ववर्ती है। मानव-स्वभाव जैसी वस्तु अस्तित्ववादी को स्वीकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है। सार्त्र के अनुसार "मानव स्वभाव का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मानव-स्वभाव के सामान्य प्रत्यय के निमित्त ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है। मनुष्य साधारण रूप में है। केवल इतना ही नहीं कि वह स्वयं जो होने का विचार करता है, वही वह है, अपितु वह वह है जो होने की इच्छा वह करता है और अस्तित्व के अनन्तर वह स्वयं जो होने का विचार करता है। मनुष्य अपने आपको जो बनाता है, उसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है।" सार्त्र के इस दृष्टिकोण से यह बात स्पष्ट होती जाती है कि अस्तित्ववादी मानव-विकास को स्वीकार नहीं करते। अज्ञेय को अभी औपन्यासिक
रूप में ऐसे स्थल नहीं मिले हैं जहाँ वे इस दृष्टिकोण को अपनाने की चेष्टा करें,

अभीष्ट है। मानव जीवन की विवशता की ओर संकेत करते हुए सार्त्र कहते हैं—'सभी जीवित प्राणी अकारण ही उत्पन्न हुए हैं, अपनी दुर्बलता के माध्यम से जीते हैं और अकस्मात् मर जाते हैं।''''''मनुष्य एक निरर्थक आवेग है। यह निरर्थक है कि हम उत्पन्न हुए हैं, यह निरर्थक है कि हम मर जाते हैं।'

अस्तित्ववाद अहं केन्द्रित दर्शन है। अस्तित्ववादी बड़ी प्रबलता के साथ यह अनुभूत करता है कि 'मैं हूँ।' सार्त्र ने 'मैं हूँ' के समाजीकरण का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार 'मनुष्य दूसरों के माध्यम से ही अपने आपको जानता है। उसके अस्तित्व के लिए दूसरे का अस्तित्व अनिवार्य है।' इस प्रकार मनुष्य को 'मैं हूँ' की अनुभूति के लिए दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। 'मैं हूँ' की अनुभूति सह अस्तित्व की भावना में उतनी प्रबलता के साथ नहीं हो सकती जितनी प्रबलता के साथ विरोध की स्थिति में होती है। इसी कारण अस्तित्व के अतिरेक को स्वीकार करने वाले विरोधात्मक स्थिति को दृढ़ता के साथ अपना लेते हैं। 'अपने अपने अजनबी' में योके के मन में सेल्मा के प्रति बार-बार विरोध भाव उत्पन्न होता है और उसका विरोध भाव जितना प्रबल होता है, उसका अपने अस्तित्व के प्रति मोह उतना ही प्रबल और दृढ़ हो जाता है। इसी कारण वह विरोध को कसकर पकड़े रहना चाहती है। यहाँ तक कि उसका विरोध चरम विसर्जन का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार सेल्मा के मन में भी यान के प्रति विरोध भाव उमड़ आता है और वह चरम सीमा तक इस विरोध को दृढ़ बनाए रखती है। अहं केन्द्रित भाव और विरोध के कुछ उदाहरण देखिए—

"सेल्मा को एकाएक ऐसा लगा कि दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इसके कि एक वह है और बाकी ऐसा सब है जो कि वह नहीं है और जिसके साथ उसका केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र सूचना है जिसे उसे जकड़कर पकड़े रहना है, जिसे पकड़े रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढ़ाना है।"[1]

"लेकिन इस तरह वह नहीं छोड़ेगी, कभी नहीं छोड़ेगी! विरोध—एक मात्र सूत्र—जीवन का सहारा..."[2]

"दाय मौत का है, मौत विरोध की स्थिति में उत्पन्न होती है, विरोध सूत्र है और उसे पकड़े ही रहना है..."[3]

१. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ८९।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ९०।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ९१।

दूसरों की उपस्थिति में अपने अस्तित्व को बोध बड़ी तीव्रता से होता है और विरोध की स्थिति में तो अपने अस्तित्व के प्रति सजगता और अधिक बढ़ जाती है। सेल्मा इसी विरोध को स्थिति में अपने अस्तित्व के प्रति सजग है, किन्तु उसे अपने अस्तित्व के साथ ही साथ यान के अस्तित्व का बोध होता रहता है। उससे अपमानित होने पर उसके मन में प्रतिशोध का भाव जागृत अवश्य होता है, पर वह प्रतिशोध लेने में समर्थ नहीं हो पाती। उसकी क्रूरता, उसका मोह और विरोध के लिए उसका विरोध बढ़ता ही जाता है और अतिरेक पर पहुँच जाता है। अपनी इन्हीं भावनाओं के कारण उस धनुषाकार पुल पर वह अपने आपको नितांत अकेली पाती है। अकेलेपन की विवशता भी अस्तित्ववादी दृष्टि की एक विशेषता है। यान के इस कथन से इस बात की पुष्टि हो जाती है—

'मरेगा तो शायद हम दोनों में से कोई नहीं—तुम्हारी हरकत के बावजूद अभी तो नहीं लगता कि मैं मरने वाला हूँ। लेकिन अगर सचमुच यह बाढ़ ऐसी ही इतने दिनों तक रही कि मैं भूखा मर जाऊँ, तो तुम बचकर कहाँ जाओगी? बल्कि अकेली तो तुम अब भी हो, जबकि मैं नहीं हूँ। और शायद मर ही चुकी हो—जब कि मैं अभी जिन्दा हूँ।'

यान के मन में सेल्मा के प्रति कोई विरोध भाव नहीं है। हाँ, उसके व्यवहार के कारण उसके प्रति घृणा जरूर है। किन्तु सेल्मा अपने विरोध-भाव के कारण पूर्णतया भिन्न स्थिति में है। उसकी अपने निजी अस्तित्व के प्रति सजगता जहाँ उसके निजी अस्तित्व को अधिक प्रखर बना देती है, वहीं दूसरे के अस्तित्व के तिरस्कार के कारण उसका अकेलापन और अधिक घनीभूत हो जाता है। विरोधभाव के साथ अकेलेपन की अनुभूति उसे अत्यन्त व्यापक धरातल पर होती रही है। इनके अतिरिक्त सेल्मा के पूर्वपक्ष में दूसरा कोई अस्तित्ववादी तत्त्व दृष्टिगत नहीं होता। उसने अपनी इन्हीं दोनों भावनाओं के कारण अन्त में जीवन से समझौता कर लिया। यान के साथ विवाह कर लिया। लेखक ने उसके जीवन के इस पक्ष को बहुत ही सुन्दर शब्दों में अंकित किया है—

जीवन जलाकर पकाया गया है और जिसका साझा करना ही होगा क्योंकि वह अकेले गले से उतारा ही नहीं जा सकता—अकेले वह भोगे भुगता ही नहीं।'

यह जीवन का स्वस्थ पक्ष है। अस्तित्ववादी रचनाओं में जीवन का ऐसा पक्ष दृष्टिगत नहीं होता। परमशून्यता या कुछ न होने के भाव को अपनाकर चलने के कारण अस्तित्ववादी सर्जक अपने साहित्य में विसंगतियों को अतिप्रमुखता प्रदान करते हैं तथा जीवन के जुगुप्सित पक्ष के चित्रण में अधिक रस लेते हैं। किन्तु सार्त्र आदि सैद्धान्तिक रूप में जीवन के स्वस्थ पक्ष को स्वीकार करते हैं।

निरपेक्ष अस्तित्ववादी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। किर्केगार्द ईश्वरवादी थे। इस कारण उनमें आस्था थी, किन्तु निरपेक्ष अस्तित्ववादी ईश्वर को नकारने के कारण आस्था विहीन हैं। किर्केगार्द के अनुसार मनुष्य ईश्वर से पृथक् कर दिया गया है। इस कारण मनुष्य को गहन गर्त्त में कूदने का खतरा मोल लेना चाहिए। ईश्वर और मनुष्य के बीच जो बहुत बड़ा व्यवधान है, उसके कारण मनुष्य अपने प्रयत्न से न तो शिव ही प्राप्त कर सकता है और न तो आस्था ही। इस कारण उसे अज्ञात में कूदने का खतरा उठाना चाहिए। अनीश्वरवादी इस व्यवधान को शून्यता-पूर्ण शून्यता की संज्ञा दे देता है, क्योंकि वह ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार शून्यता—कुछ न होने का भाव—केन्द्रीय अनुभूति हो जाती है। अतः इसे आवेग के साथ अपना लिया जाता है। मनुष्य अज्ञात में कूदने का खतरा उठाने के स्थान पर स्वयं अपने को शून्यता में निमज्जित कर देता है। उसे सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है और अनास्था को अपनाते हुए वह भय और कम्पन का अनुभव करता है।

डर भी ।'[1]

'निरे अजनबी डर के साथ क़ैद होकर कैसे रहा जा सकता है ? नहीं रहा जा सकता ।...मैं तो अजनबी डर की बात कह गई...अभी तो हम-तुम भी अजनबी से हैं, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर लें ।'

कुछ न होने का भाव—'हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अंतिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही......इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है । पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है ।'[2]

'न होना । न होना...होना, न होना । होना और न होना—और एक साथ ही होना और न होना......।'[3]

शून्यता की स्वीकृति के साथ निरपेक्ष अस्तित्ववादी विसंगति को स्वीकार कर लेता है । योके के चरित्र तथा उसके व्यवहार में आद्यंत इस प्रकार की विसंगति मिलेगी । इसी विसंगति को देखकर कुछ आलोचकों ने योके को न्यूरॉटिक सिद्ध किया है, किन्तु वह न्यूरॉटिक नहीं है । महाशून्यता में समग्र भाव से निमज्जित हो जाने के कारण नैराश्य जनित मनःस्थिति उसे ऐसा व्यवहार करने के लिए विवश बना देती है और उसके चरित्र तथा व्यवहार में अनेक प्रकार के विरोधात्मक तत्व समाहित हो जाते हैं । जबकि सेल्मा के चरित्र में जो विरोधात्मकता मिलती है वह मात्र व्यवधान जनित विकलता या निराशा का प्रतिफल है । वह इस नैराश्य से विजित नहीं होती, अपितु उसका सामना करने के लिए तत्पर रहती है; जबकि नैराश्य में सर्वथा निमज्जित हो जाने के कारण योके को सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है । वह अपने आपको सभी प्रकार से असहाय पाती है । दोनों में जो अंतर है वह योके के निम्नलिखित चिंतन से स्पष्ट हो जाता है—

'और ठीक यही पर फ़र्क है । वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जिए जा रही है । और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मारना चाह रही हूँ ।'[4]

नैराश्य का यह सतत संवृहण और मृत्यु का चिंतन योके को सर्वथा दुर्बल बना देता है । उसे चतुर्दिक् यथार्थ के रूप में मृत्यु ही दिखाई देती है ।

१. अपने अपने अजनबी, पृ० १० ।
२. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५४ ।
३. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५६ ।
४. अपने अपने अजनबी, पृ० ३८ ।

'शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का वह विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, भले-बुरे का बोध है।'[1]

'अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उसका स्वागत किया जाए।'[2]

निरपेक्ष अस्तित्ववादी सबसे अधिक जोर मृत्यु पर ही देते हैं। किर्केगार्द भी मृत्यु पर जोर देते हैं, पर निरपेक्षवादियों के समान नहीं। किर्केगार्द के लिए 'हमारा जीवन मृत्यूमुख अस्तित्व है, ऐसी रुग्णता है जो अनिवार्यतः मृत्यु की ओर ले जाती है।' उनके लिए यह एक चुनौती है, जिसकी अनिवार्यता का ज्ञान हमें इन्द्रियातीत पर अपनी दृष्टि जमाने के लिए विवश कर देता है, किन्तु निरपेक्षवादी मृत्यु के सतत चिंतन के कारण अभावात्मक दृष्टि अपना लेते हैं। उनके लिए सब कुछ निरर्थक प्रतीत होता है। सेल्मा और योके में भी यही अंतर है। सेल्मा विवशता की इस स्थिति में ईश्वर को ओढ़ लेना चाहती है, जबकि योके के लिए मृत्यु ही ईश्वर है।

'हाँ योके, मैं भगवान् को ओढ़ लेना चाहती हूँ। पूरा ओढ़ लेना कि कहीं कुछ उघड़ा न रह जाए।'[3]

योके—'मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यों मानूँ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती। मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है।'[4]

मृत्यु का सतत चिंतन उसे मृत्यु को नकारने की स्थिति में ले आता है, किन्तु इस नकार में मृत्यु की ओर भी स्वीकृति निहित है। उसे आधुनिक निरर्थकता ही निरर्थकता प्रतीत होती है और वह अन्दर अन्दर अस्तित्व को सर्वथा मृत्युन्मुख पाती है। उसका यथार्थ रूप सेल्मा की मृत्यु के अवसर देखा जा सकता है, जबकि सर्वत्र उसे मृत्यु की गंध परिव्याप्त दिखाई देती है—

'व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गंध नहीं हटती, न हटेगी, सब जगह फैली हुई है, सब कुछ में बसी हुई है। सब कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, निर्जीव है—बेदरकार...'[5]

१. अपने अपने अजनबी, पृ० १८।
२. अपने-अपने अजनबी, पृ० १४।
३. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५०।
४. अपने-अपने अजनबी, पृ० ५५।
५. अपने अपने अजनबी, पृ० १००।

'केवल मृत्यु की प्रतीक्षा—मरने की प्रतीक्षा—सड़ने और गंधाने
प्रतीक्षा...यह गंध पहले ही सब जगह और सब कुछ में है और हम सर्वदा मृत्यु-
से गन्धाते रहते हैं।'[1]

जन्म और मृत्यु दोनों रहस्यात्मक होते हैं। जन्म के रहस्य से यह बात स्प
हो जाती है कि हम अपने अस्तित्व को वरण करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। यह हमारे ि
आरोपित है, किन्तु अस्तित्ववादी अस्तित्व की पूर्ववर्तिता को संगत सिद्ध करने के ि
इसे अपना ही वरण सिद्ध करते हैं। अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि हम जीने
लिए विवश हैं और हम मरने के लिए विवश हैं। हम इस संसार में असहाय छोड़
गए हैं। सार्त्र के अनुसार 'मेरा भय स्वतन्त्र है, वह स्वतंत्रता का प्रकाशन है
अपनी स्वतन्त्रता को भय में रख देता हूँ और इस प्रकार मुझे स्वतंत्रता प्राप्त है
इस प्रकार अस्तित्ववादी भय और विवशता को भी अपनी स्वतंत्रता स्वीकार कर
हैं। लेखक ने 'अपने अपने अजनबी' में इस विवशता पर अच्छा प्रकाश डाला
सेल्मा की अकेले रहने की भावना जानकर योके ने उससे कहा था—

'अगर वैसा है तो मुझे दुःख है, पर मेरी लाचारी है। यह तो कह नहीं सक
कि मैं अभी चली जाती हूँ। वह मेरे बस का होता—'[2]

वह कितनी विवश है कि वह सेल्मा के अकेले रहने की भावना का सम्
करने में भी समर्थ नहीं है।

मनुष्य अपने ऐतिहासिक परिवेश में फेंक दिया गया है। वह कुछ भी अपन
के लिए स्वतन्त्र नहीं है। सेल्मा कहती है—

'और स्वतंत्रता—कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा,
या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतंत्र हूँ कि मैं बीमार न रहूँ—या कि अब बीमार हूँ तो
क्या इतनी भी स्वतंत्र हूँ कि मर जाऊँ।'[3]

सेल्मा अपनी ऐतिहासिक स्थिति को स्वीकार कर लेती है। इस कारण उसकी
स्वतन्त्रता की कल्पना देश-कालसापेक्ष है, किन्तु निरपेक्ष अस्तित्ववादी ऐतिहासिक स्थिति
के स्थान पर नैराश्य को स्वीकार करते हैं और नैराश्य तथा भय में ही अपनी स्वतंत्रता
प्रक्षेपित कर देते हैं।

योके की दृष्टि में भी 'कहीं वरण की स्वतंत्रता नहीं है। हम अपने बंधु का
वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नहीं......हम इतने भी स्वतंत्र

---

१. अपने-अपने अजनबी, पृ० १०८।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २९।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ४७।

नहीं है कि अपना अजनबी को चुन सके।'[1]

मानव जीवन विवशता और लाचारी का जीवन है। मनुष्य को ऐसा महाशून्य में डाला गया है जहाँ वह कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। स्वतंत्र होने के लिए विवश है क्योंकि वह बेचारा है।

अस्तित्ववाद में क्षण का महत्त्व है—अनुभूत क्षण का, काल की अबाध परम्परा का नहीं। 'अपने अपने अजनबी' में लेखक ने अनेक स्थानों पर अनुभूत-क्षण की व्याख्या की है।

'हमारे लिए समय सबसे पहले अनुभव है—जो अनुभूत नहीं है वह समय नहीं है।'[2]

'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस संदर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव तो है लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त।'[3]

इसके साथ ही अस्तित्ववादी अनुभूति को केवल अनुभूति को सचाई मानते हैं। जो अनुभूत नहीं है उसे सामान्य प्रत्यक्ष के रूप में वे स्वीकार नहीं कर सकते।

'क्या 'वह है' और 'मैं हूँ' ये दोनों बुनियादी तौर पर अलग-अलग ढंग के, अलग-अलग जाति के, अलग-अलग दुनियाओं के ही बोध नहीं हैं? 'वह है' के जोड़ का बोध यह भी है कि 'वह नहीं है', लेकिन 'मैं हूँ' के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है; 'मैं नहीं हूँ' यह बोध नहीं है बल्कि बोध का न होना है।'[4]

'दुःख और कष्ट की बात—लेकिन दुःख और कष्ट सच कैसे हैं अगर उनका बोध ही नहीं है।'

ईश्वर भी स्वेच्छाचारी नहीं है। वरण की स्वतंत्रता किसी को नहीं है और वरण न करने की स्वतंत्रता भी किसी को नहीं है। सभी जीने और मरने के लिए विवश हैं। योके ने आत्महत्या के रूप में मृत्यु का वरण किया, पर क्या यह उनका

---

१. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ११४।
२. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २३।
३. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ २३।
४. अपने अपने अजनबी, पृष्ठ ५५।

वरण या अथवा परिस्थिति जन्य विवशता ? जर्मन सैनिकों ने उसकी अन्तरात्मा। आन्दोलित कर दिया। उनके दुर्व्यवहार ने उसकी जिजीविषा समाप्त कर दी। जर्मनी की वेश्या, यह रूप उसे कितना कुत्सित और बीभत्स प्रतीत हुआ। उसने इस प्रकार के जुगुप्सित जीवन से मृत्यु का वरण पसन्द किया। वैसे अस्तित्ववादी के सामने नैतिकता का कोई प्रश्न नहीं है। कामू ने कहा है—यदि हम किसी वस्तु पर विश्वास नहीं करते, यदि किसी वस्तु का कोई मूल्य नहीं है और यदि हम कोई मूल्य स्वीकार नहीं करते तो प्रत्येक बात संभव है और किसी वस्तु का कोई महत्व नहीं है हत्यारा न तो बुरा है और न तो अच्छा है। असत्-सत् मात्र संयोग या सनक है। किन्तु योके इस सीमा तक अस्तित्ववादी नहीं है। इसी कारण अपमानित-जुगुप्सित जीवन की अपेक्षा मृत्यु को उसने अंगीकार किया।

अज्ञेय ने एक स्थान पर जीवन की विवर्द्धमान शून्यता एवं जीवन के विघटित मूल्यों का बहुत ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है—

'अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजें, अजनबी मुद्राएँ और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।'

वस्तुतः मानव की वैयक्तिकता सामूहिक जीवन में बहुत बड़ा व्याघात उपस्थित करती है। अस्तित्ववाद वैयक्तिक अनुभूति को ही सार्थक मानता है और कुछ न होने के भाव को अपनाकर जीवन के समस्त मूल्यों को विघटित कर देता है। इस स्थिति में व्यक्ति व्यक्ति के लिए अजनबी-सा हो रह जाता है और मानवीय भाव सहानुभूति करुणा, ममता आदि के स्रोत सूख जाते हैं।

अन्त में अपमान से सान्निध्य में योके की मृत्यु दिखाकर लेखक ने संभवतः भारतीय दर्शन की यह विशिष्टता दिखानी चाही हो कि एक सामान्य भारतीय के लिए जीवन और मरण उस रूप में पहेली नहीं है जिस रूप में एक सामान्य

निकना की ढेरी न आ जाए जिसमें जीवन-अनिल अपने अस्तित्व को ही खो दे। आशा और आस्था का स्वर नहीं है। इसी कारण एक-एक वाक्य उखड़ा-उखड़ा है और लेखक इस कारण अपने पात्रों को जीवंत भी नहीं बना सका है। दोनों प्रमुख पात्र नियति की पुत्तलिकाएँ हैं।